❑ नानेश वाणी -2
आह्वान अपनी चेतना का (आत्म समीक्षण भाग-1)

❑ आचार्य श्री नानेश

❑ प्रथम संस्करण : सितम्बर 2001, 1100 प्रतियां

❑ मूल्य : 30/-

❑ अर्थ सहयोगी : श्री साधुमार्गी जैन संघ, हावड़ा

❑ प्रकाशक :
श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ,
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर

❑ मुद्रक :
अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर
दूरभाष : 547073

(प्रथम संस्करण से)

प्रस्तावना

यह पुस्तक जैन आम्नाय के सम्मान्य एवं पूजनीय आचार्यदेव श्री नानालालजी महाराज सा. के राणावास प्रवचनों पर आधारित तथा श्री शांतिचंद्रजी मेहता द्वारा सम्पादित है।

'आत्मसमीक्षण के नव-सूत्र' शीर्षक इस आकलन में जैन दर्शन एवं अध्यात्म साधना के समग्र समाहित हैं। जैन परम्परा के प्राचीनतम सूत्र आचारांग के वाक्यों को शीर्ष-स्थान पर रखते हुए कालातीत एवं चिरंतन आईतीविद्या का यह अमृत-कलश साधकों के लिए एक संजीवनी है जिसमें समता-योग एवं ध्यान की क्रमागत एवं सुगम्य व्याख्या है। आचार्य भगवन की भाषा प्रांजल किन्तु सरल है, उदाहरण सुगम्य एवं दिशादर्शक हैं और अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था के साथ सामाजिक एवं आर्थिक राजनयिक जीवन के भी दिशा-निर्देश हैं। इस आकलन की एक अपूर्व एवं अनुपम विशेषता यह भी है कि यहां किसी अन्य पुरुष को संबोधित करते हुए आध्यात्मिक सत्यों का मात्र बौद्धिक विवेचन नहीं किया गया है अपितु आचारांग की भांति ही प्रथम-पुरुष में ही कर अध्याय का प्रारंभ और समापन किया गया है और हर अध्याय अपने पूर्ववर्ती चिंतन से इतना क्रमागत एवं गुंफित है कि यह ग्रंथ आध्यात्मिक चेतना की महायात्रा का एक निर्देशक आकलन बन गया है। पाठक यहाँ प्रथम-पुरुष में अपने को रख कर सतत आत्मावलोकन करते हुए समत्व योग के एक-एक सोपान को बुद्धि से परिलक्षित नहीं, अपितु भावना से आत्मसात करते हुए आगे बढ़ सकता है। यह पुस्तक अध्यात्म पथ के पथिकों के लिए एक सक्षम मार्गदर्शक एवं पथ-बंधु बन गयी है।

दृष्टव्य यह भी है कि यहाँ किसी प्रकार का साम्प्रदायिक मताग्रह या खंडन-मंडन नहीं है। जैन दर्शन एवं सिद्धान्त का कोई भी सूत्र अविवेचित नहीं रहा है, लेकिन दृष्टि मानव-चेतना की जड़ जगत के साथ मिथ्या तादात्मय से ऊर्ध्वारोहण कर अंनत-चेतना स्व-स्वरूप के साथ एकत्व की जय-यात्रा पर रही है जो इस आकलन का उद्देश्य है।

अध्यात्म-साधना के पथ पर चलते हुए भी मनीषी प्रवक्ता की दृष्टि वर्तमान विज्ञान की कषायविजड़ित राजनीतिक संकीर्ण स्वार्थों से संचालित

तथाकथित प्रगति एवं मानव सभ्यता पर उसके दूषित प्रभाव को स्पर्श करते हुए सामाजिक विषमताओं, अंध-परंपराओं, साम्प्रदायिक मताग्रहों, सामाजिक कुरीतियों का समीक्षण और उनके दुष्प्रभावों से मानव समाज को सावधान करती रही है। इस दृष्टि से भी यह आकलन अमूल्य है।

तत्व-दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए यहां समस्त गुणस्थानों, संवर-निर्जरा एवं तप के समस्त भेद-प्रभेदों एवं ध्यान-योग की समस्त आगम-सम्मत विधियों का विवेचन उपलब्ध है। संक्षेप में यह पुस्तक संप्रदायातीत शुद्ध जैन-दर्शन एवं साधना के सूत्रों का संक्षिप्त एवं सुगम सार सत्व है।

कलकत्ता
दिनांक 26.5.95

डॉ. भानीराम वर्मा 'अग्निमुख'

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माएं अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तंभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियां युगों-युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनों हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जायें। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को ''नानेश वाणी'' पुस्तक शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया। इस निर्णय की पूर्ति हेतु विशिष्ट निधि की स्थापना की घोषणा की गई तथा देशभर में फैले श्रद्धालुओं से मुक्त हस्त अर्थ सहयोग प्रदान करने का आह्वान किया गया। सत्संकल्पों की पूर्ति में कभी बाधाएं नहीं आती। ऐसा ही इस संकल्प के साथ भी हुआ। सभी ओर से प्राप्त प्रभूत अर्थ सहयोग ने संघ को उस स्पृहणीय स्थिति में पहुंचा दिया जिसमें संकल्प पूर्ति मात्र औपचारिकता रह जाती है।

इस संदर्भ में बैंगलोरवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी के विशेष सहयोग का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी गुरुभक्ति, धर्मनिष्ठा एवं संघ समर्पणा भाव ने उन्हें प्रेरित किया कि वे समर्पित भाव से प्रयत्न करें। उन्होंने ऐसा ही किया । उन्हीं के सद्प्रयासों से ''नानेश वाणी शृंखला'' का 40

प्रकाशनाधीन पुस्तकों के लिए अर्थसहयोग की लगभग स्वीकृति कर्नाटक और तमिलनाडु से ही प्राप्त हो गई। श्री सिपानी जी की ऐसी संघनिष्ठा हेतु तथा उदार दाताओं के प्रशस्त सहयोग हेतु हम आभारी हैं।

अब जबकि अपेक्षित धनराशि एकत्र हो चुकी है। हम आचार्य श्री नानेश के साहित्य को चरणबद्ध रीति से प्रकाशित करने की दिशा में गतिमान हो गये हैं। हमारी योजना के अनुसार प्रथम चरण में प्रकाशित एवं प्रचारित परन्तु अनुपलब्ध, कृतियों के नवीन संस्करण प्रकाशित·किये जाने हैं। द्वितीय चरण में अप्रकाशित असंपादित प्रवचनों को संकलित कर नयी कृतियों के रूप में प्रकाशित किया जावेगा।

इस क्रम में आचार्य नानेश् की कृति *आह्वान अपनी चेतना का* की यह नवीन आवृत्ति सुधी पाठकों, साधकों, स्वाध्यायियों एवं श्रद्धानिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं के हाथों में अर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष एवं संतोष का अनुभव हो रहा है। हमें विश्वास है कि यह आवृत्ति उनकी रुचि, अपेक्षाओं एवं आशाओं के अनुरूप बन पड़ी है।

यहां यह उल्लेख भी प्रासंगिक है कि जैन श्रमण परम्परा में साधुमार्गी जैन संघ का आत्म साधना, तपोराधना, धर्म प्रभावना एवं साध्वाचार की प्रवृत्तियों को प्रेरित करने में महत्वपूर्ण योग रहा है। क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. ने इसकी प्रतिस्थापना हेतु अहं भूमिका का निर्वहन किया था। उनके पश्चात्वर्ती आचार्यों ने इस संघ को अनवरत ऊंचाईयां की ओर अग्रसर किया। श्री शिवलालजी म.सा. यदि निर्ग्रन्थ संस्कृति के प्रतीक थे तो श्री उदयसागरजी म.सा. ज्ञानाराधना के आदर्श। श्री चौथमलजी म.सा. श्रमणाचार व संघनिष्ठा के उच्च शिखर रूप समादृत रहे तो श्री श्रीलालजी म.सा. अनन्य योग साधक व बेजोड़ भविष्यदृष्टा बने। उनके उत्तराधिकारी श्रीमद् जवाहराचार्य एक ऐसे क्रान्तदृष्टा थे जिन्होंने आत्मधर्म के साथ ग्राम-नगर, राष्ट्र धर्म आदि संयुक्त कर धर्म को नव आयाम प्रदान किये तो कालजयी विचार दर्शन भी प्रस्तुत किया। शांत क्रान्ति के अग्रदूत श्रीमद् गणेशाचार्य ने यदि धर्म संघ, आत्मचिंतन व श्रमण चेतना को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया तो आचार्य श्री नानेश ने आत्मलक्षी साधना की युगीन दिशाएं उन्मुक्त कीं।

चिन्तन और साधना के क्षेत्रों में नवीन कीर्तिमान स्थापित करने वाले ऐसे

आध्यात्मिक नव जागरण की दृष्टि से अपरिहार्य है वहीं एक प्रज्ञासम्पन्न साधक, आदर्श चिंतक एवं दार्शनिक, समत्वयोगी, समीक्षण ध्यान प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक एवं आध्यात्मिक आराधक के रूप में उनका प्रदेय वर्तमान युग की अनमोल निधि है। अपने इस प्रदेय और अपनी गहन साधना द्वारा धर्माचार्य के रूप में उन्होंने वह विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया जो सम्प्रदायातीत होता है। उनका यह रूप उनके उस सम्पूर्ण प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य में प्रखरता से उद्घाटित होता है जो गाथाओं, कथाओं, प्रवचनों उपदेशों एवं उद्बोधनों के रूप में उपलब्ध है और अपनी प्रकृति के कारण जो चेतना के ऊर्ध्वारोहण, चरित्र के सुसंस्कार एवं जीवन के परिष्कार में सहायक भी है।

आचार्य श्री नानेश की साहित्य साधना पर विहंगम दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि कालक्रम से परिवर्तित होते ''साहित्य'' के अर्थों के संदर्भ में इसमें सभी रूपों का प्रतिनिधित्व है। यह शास्त्र की भांति परम हितकारी है तो काव्य के अर्थ में सत्य, शिव, सुंदर का समन्वित रूप भी है। इसमें सन्निहित सत्य शाश्वत है, यह शिव स्वरूपी अर्थात् सर्व कल्याणकारी है और सत्य व शिव होने से सौन्दर्य-बोध भी करता है। यदि समग्र साहित्य को अंग्रेजी के 'लिटरेचर' अर्थ में लें तो यह जितना लिखित (पुस्तकाकार प्रकाशित) है उतना ही प्रवचनों के रूप में मौखिक भी है।

यह महत्वपूर्ण तथ्य व सत्य है कि आचार्य श्री नानेश साहित्यकार होने से पूर्व एक सिद्ध संत थे यद्यपि-सर्वप्रथम वे मानव थे। यही कारण है कि मानव को केन्द्रस्थ रखकर उन्होंने अपने प्रवचनों में यही संदेश दिया कि मनुष्य आत्मा से परमात्मा (अप्पा सो परमप्पा) की यात्रा हेतु स्वयं को कषायों से मुक्त करें और परिधि से केन्द्र में स्थित होने के लिए बहिर्मुखी चिंतन को छोड़कर अन्तर्मुखी बनें। वस्तुत: उनका बहुआयामी चिंतन उनकी अनोखी उपलब्धि है तथा उनका साहित्य मानव मात्र के हित साधन हेतु सप्रदायातीत जीवन मूल्यों के विकास एवं संरक्षण का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आचार्य श्री जी का साहित्य विपुल है। समाज के सम्मुख उपलब्ध प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त ऐसा अपरिमित साहित्य भी विद्यमान है जो लिपिबद्ध प्रवचनों, फुटकर लेखों एवं भक्तजनों द्वारा संकलित/संग्रहित सामग्री के रूप में है। संघ ऐसे साहित्य को प्राप्त कर उसे यथासंभव प्रकाशित कर जन-जन के हितार्थ प्रस्तुत करने हेतु कृत संकल्प है।

आचार्य श्री नानेश के साहित्य को निश्चित वर्गों में विभाजित कर पाना कठिन है। इसमें समाविष्ट हैं प्रवचन-संकल्प, आगम-ग्रन्थों/विषयों का विवेचन, कथा साहित्य, काव्य कृतियाँ, सुभाषित व सूक्तियां। उनका साहित्य उनकी ज्ञान गरिमा का परिचय तो कराता ही है समाज की दृष्टि से उसकी उपयोगिता को भी रेखांकित किया जा सकता है। वस्तुत: उनका साहित्य चाहे वह किसी भी रूप/विधा में हो, वह उनकी उच्च कोटि की आध्यात्मिक साधना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। एक युग-प्रवर्तक संत, धर्माचार्य, अध्यात्म योगी एवं समता दर्शन प्रणेता के जीवन के विविध आयामों तथा साधना के विभिन्न क्षेत्रों में परिचित कराने में भी वह सक्षम है। उनके इस साहित्य के विषय हैं- धर्माचरण, चरित्र परिष्करण, संस्कार-निर्माण एवं आत्मकल्याण।

उनका साहित्य प्रणयन वर्तमान जीवन की ज्वलंत समस्याओं के संदर्भ में हुआ है। उन्होंने समाजवादी और साम्यवादी चिंतन को आध्यात्मिक धरातल पर आग्रह मुक्त हो व्याख्यायित ही नहीं किया उसे व्यवहार की गरिमा से विभूषित भी किया है। उन्होंने जहां जीवन की विषमताओं/विभीषिकाओं, अधर्म के विस्तार, काषयिक प्रवृत्तियों, अभावों, अशांति, तनाव, असंतोष आदि का चित्रण किया है, वहीं अपनी साधना के माध्यम से मानवता के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त किया है। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण साहित्य जीवन से जुड़ा तो है ही जीवन उन्नयन का मूलाधार भी बना है। यही उनकी साहित्य-साधना की सार्थक व महत्वपूर्ण उपलब्धि है तथा इसी में सन्निहित है उसकी कालजयिता और सार्वजनीनता।

ऐसे उपयोगी साहित्य को सर्व सुलभ बनाने का हमारा संकल्प यदि मूर्तरूप प्राप्त कर सका है तो नि:संदेह यह उन वर्तमान आचार्य श्री रामेश के आशीर्वाद का ही परिणाम है जिनकी गुरु भक्ति अनुपम व अनूठी है तथा जिन्हें जन कल्याणकारी चिंतन को जन-जन तक पहुंचाने की विशेष चिन्ता है। हमें उनसे प्रेरणा ही नहीं मिली, वह सम्पूर्ण वत्सल मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ है, जो प्रेरणा को उपलब्धि में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक होता है। उनकी ऐसी कृपा हमारा ऐसा सौभाग्य है जिस पर सम्पूर्ण साधुमार्गी जैन संघ गर्व कर सकता है। संत शिरोमणि, आचार्य देव की ऐसी महती कृपा के लिए हम उनके प्रति विनय और श्रद्धा से नतमस्तक हैं।

प्रस्तुत कृति *आह्वान अपनी चेतना का* (नानेश वाणी क्र.-2) के प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थ सौजन्य के लिए श्री साधुमार्गी जैन संघ, हावड़ा के प्रति हम धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। सद् साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उनका यह सहयोग निश्चय ही अनुकरणीय एवं वंदनीय है।

उपर्युक्त कृति में सन्निहित मूल संदेश व कृति का परिचय अग्र पृष्ठ/पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा रहा है; जो दृष्टव्य है।

हमें पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में समाविष्ट विचार-दर्शन को आत्मसात कर पाठक आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे।

भवदीय

राजमल चोरड़िया — अध्यक्ष
धनराज बेताला — महामंत्री
शांतिलाल सांड — संयोजक

कमल सिपानी
अभय कुमार चोरड़िया
जयचन्दलाल सुखानी
उदय नागोरी

(सदस्य, साहित्य समिति, श्री अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर)

एक दीप आदित्य बन गया
(आचार्य श्री नानेश संक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नन्हा दीप,
सदाहरता तिमिर जग का,
सहज शान्त अभीत !

छोटा सा दीपक, गांव की मिट्टी की सोंधी गंध से सुवासित, सुसंस्कारों के नेह से सिंचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन में युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहुं ओर परिव्याप्त निबिड अंधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा में सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को मंगलकारी दीपावली में परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक, 'नाना' दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारों ने कहा भी है-

जह दीवो दीवसयं पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वंति परं च दिवंति ।।

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई तो नहीं। प्रलय पारावार में वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात ब्रह्म ही तो थे जिन्हें श्रद्धालुजन भक्तभाव से नमन करते हैं- 'वटस्य पत्रस्य पुटः'' शयानम् बालमुकुंदम् शिरसा नमामि'' और उन्हीं के संरक्षण में नव सृष्टि का विकास संभव

हुआ था। अज्ञानांधकार के हरण में महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता क्योंकि ''उतमतं गुणेहि चेव पविज्ञई''। उत्तमता गुणों से प्राप्त होती है और गुणों की ही पूजा होती है-'गुण: पूजास्थानं न च लिंग न च वय:।' यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवें पाट के अधिष्ठाता का पद 'नानालाल' को देने की पूर्वपीठिका की दिशा में उन्हें युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी श्रृंगार बाई का ममताव्याकुल संशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो-'' ई घणा भोला टाबर है, यां पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।''

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है कि चतुर्दिश अंधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा ! वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वत: ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का संकल्प। इस संकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली में सजाता जाये जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान हो उठे। इसी संकल्प की पूर्ति में ''नाना दीप'' ने दीपित संत-सतियों की एक सुदीर्घ श्रृंखला ही सर्जित कर दी थी। एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ती गई थी। सम्पूर्ण संसार को अपनी ज्योति-परिधि में आवेष्ठित कर लेने के लिये और जगती का आंगन आचार्य श्री के नेश्राय में दीक्षित दीपकों की लम्बी श्रृंखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असंदिग्धप्रमाण था। यह चमत्कार भी था। क्योंकि ज्ञान-साधना और समाज-निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पांच सौ वर्षो में भी सम्पन्न नहीं हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितियां अत्यन्त विषम थी। एक अत्यन्त सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहों से टकराव, विरोधों की उग्रता एवं दुर्बल संघीय व्यवस्था अपने आप में विकट समस्याएं थी। परन्तु ''दिवा समा आयरिया पण्णता''- आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्जवलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अत: भीषण झंझावात के उस काल में जब श्रमण संघों एवं श्रावक संघों की भावनाएं भीषणरूप से आलोड़ित थी, इस संघ प्रज्वलित दीपक ने साहस-पूर्वक घोषणा की थी।

''संघर्ष से ही नवनीत निकलता है और संघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। संघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिह्नों पर नहीं चल सकता।''

और प्रारम्भ हुई थी लड़ाई- दिये की और तूफान की, जिसमें दीया विजयी हुआ था। झंझावत शांत हुआ था सद्भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मंद फुहारों से सम्पूर्ण जन-जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा था तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमंगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग में तपने की। संवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी संत अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के भावों से मुक्त होते हैं। सोना तप कर कुन्दन बनता है और संघर्षों में स्थिरमति रहकर मनस्वी वंदनीय बन जाता है।

मनस्वी कार्यार्थीं न गणयति दु:ख न च सुखं।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुन: कांचन कान्तवर्णम्॥

अशांति, विरोध और संघर्ष से आलोड़ित जन सागर के इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियों का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिंसा, आतंक, विरोध, शोषण पीड़ा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियों के उपचार में यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य संदेशों द्वारा इस संत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुंदर काव्यात्मक दिग्दर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पंक्तियों में हुई है-

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत।
श्रेय मानव का असीमित मानवों से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान।
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा में यात्राओं, चातुर्मासों और उद्‌बोधनों के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था- उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल्, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामंडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणें बरसाता इस संपूर्ण जीव-सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्टन में समेट लेने के लिए आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चंदन और संत, भेद-अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह-भंडार सबके लिये उन्मुक्त रखते हैं। फिर इस प्रकाशपुंज की ज्योति सीमा में कैसे बंधती ? प्रसंग अनेक हो सकते हैं। परंतु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तकारी दृष्टि धर्मपालों की अटूट शृंखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मंत्र के प्रभाव से समाज के निम्नतम स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो ''कम्मणा बम्भणा होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।'' भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा ? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रव्रज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्क संगत कहां बैठती थी ? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमें गुराड़िया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामों के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण अवगुण नहिं जानत, कंचन करत खरो- तब संत के संसर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यों नहीं बन सकते थे ? एक राजा भगीरथ ने गंगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा में मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड़ सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति में रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातंत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल में उलझी अवधारणाओं को, सरल, व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चिंतन को सैद्धान्तिक आग्रहों से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वों को पाखंड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हें अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओं का ही सहज समाधान। प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप में मान्य एवं प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वयं किया एवं करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान

की पद्धतियों को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुंचाने में आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से संबंधित विविध चिंतन धाराओं का जिस प्रकार समता दर्शन में समन्वय किया गया, वह स्वयं में उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार संहिता बना सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को संस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पांच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अध:पतन के मूल कारण हैं। ये ही आत्मा की परमात्मिकता में व्यवधान डालने वाले भी हैं।

पांच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटे दिवस अरू संझा।
जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि न सके कोई॥

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढ़पति सिद्ध हुए जो रमैया की दुलहन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नहीं दे सकता था। ऐसे गढ़पति की महिमा का बखान करते हुए संत कबीर ने पहले ही कह दिया था-

ऐसा अद्‌भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै।
मूसा हस्ती सो लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा बैठा बांबि में, लारे सांपणि धाई,
उलटि मूसै सांपिण गिली यह अचरज भाई।
नाव में नदिया डूबी जाई॥

आकाश के औंधे कुएं से पाताल की पनिहारिन जो जल भरती है उसे कोई बिरला हंस ही पीता है।

यह उलटबांसी नहीं, सत्य है, तत्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक में यह चराचर जगत किसी रूप में अर्थवान बनता है। एक नन्हे दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती में विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय वन गया।

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आंगन।
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया वन॥

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पड़ता है यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य में निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण

करता है और अपने पीछे छोड़ जाता है, एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नहीं, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की संध्यावंदन करते साधकों ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य के प्रकोष्ठ में प्रविष्ठ हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुन: आकाश मार्ग से लौट गई थी !! यह चमत्कार था और हम जानते हैं, चमत्कार होते हैं। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् दर्शन का ही नहीं, संपूर्ण जीवचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड़ गया जिसमें भव्य आत्माएं आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती है।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्वलित कर गया है........रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ़ कंधों पर वहन करने में पूर्ण सक्षम है........ दीप की आदित्य बनने की दिशा में एक और यात्रा प्रारंभ हो गई है। साधुमार्ग में यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी यह तथ्य उस परंपरा में आदित्य बने दीप प्रमाणित कर गये हैं। इस प्रकार अनन्त आलोक का पारावार हिलोरें लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह हजार पांच सौ वर्षों तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

-डा. आदर्श सक्सेना
बी-17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज.)

अर्थ सहयोगी परिचय

प्रस्तुत कृति 'आह्वान अपनी चेतना का' का प्रकाशन श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, हावड़ा के अर्थ सौजन्य से हुआ है। इस नवोदित संघ के उद्भव एवं विकास-यात्रा का विवरण अग्रत: अंकित है—

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, हावड़ा का गठन दिनांक 24.11.1999 (तदनुसार माघ सुदी 7, सं. 2056) को श्रीमान हनुमानमलजी सेठिया की अध्यक्षता एवं पूर्वांचल संघ के अध्यक्ष श्रीमान संपतलालजी सिपानी के मुख्य आतिथ्य में श्रीमान कमलचंदजी.भूरा, गौहाटी (धर्म प्रचारक) के मंगलाचरण के साथ हुआ। सभा में सर्व सम्मति से चयनित पदाधिकारी थे- सर्व श्री भंवरलालजी दुगड़-अध्यक्ष, हनुमानजी सेठिया एवं उदयचन्दजी सेठिया-उपाध्यक्षद्वय, मगनमलजी छाजेड़-महामंत्री, सुशीलकुमारजी गेलड़ा-मंत्री तथा लूणकरणजी भूरा-कोषाध्यक्ष।

समस्त उपस्थित महानुभावों ने स्व. आचार्य श्री श्री 1008 श्री नानालालजी म.सा. एवं वर्तमान शासनेश श्री श्री 1008 श्री रामलालजी म.सा. के प्रति सर्वतोभावेन समर्पणा व्यक्त करते हुए संघ के विकास कार्यों में पूरा पूरा सहयोग देने का संकल्प किया तथा साधना के क्षेत्र में सभी को अधिकाधिक जुड़ने/जोड़ने का लक्ष्य रखा।

तदनन्तर संघ की प्रगति हेतु निम्नानुसार कार्यक्रम निर्धारित किये-

1. प्रत्येक सोमवार प्रात: 8 से 9.30 बजे तक सामूहिक प्रार्थना, सामायिक एवं स्वाध्याय।

2. वक्तृत्व कला का बालक-बालिकाओं, महिलाओं, युवकों आदि में विकास करना।

3. पर्वाधिराज पर्युषण में अष्ट दिवसीय कार्यक्रम आयोजित करना तथा समता प्रचार संघ के स्वाध्यायी आमंत्रित करना।

4. प्रत्येक रविवार सायं 7 से 8 बजे तक घर घर पहुंचकर (क्रमानुसार) महामंत्र नवकार का जाप करना।

5. आध्यात्मिक सत्संग व सामाजिक कार्यक्रमों का आयोजन।

6. महापुरुषों की जन्म जयंतियों व स्मृति दिवसों पर विविध कार्यक्रमों का आयोजन।

7. स्वाध्यायी शिविर एवं संस्कार निर्माण शिविरों का आयोजन।

उपर्युक्तानुसार संघ में उल्लेखनीय कार्य सम्पन्न हुए हैं और संघ दिन-ब-दिन उन्नयन की दिशा में अग्रसर हैं।

वर्तमान कार्यकारिणी में संयुक्त मंत्री पद पर श्री विजयकुमार जी आंचलिया का नया चयन हुआ है तथा कोषाध्यक्ष पद पर श्री प्रकाशचंदजी भंडारी चयनित हुए हैं। इनके अतिरिक्त समस्त पदाधिकारी पूर्ववत हैं।

संघ समर्पणा वर्ष के उपलक्ष्य में श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ हावड़ा का मुख्य लक्ष्य है शास्त्रज्ञ, प्रशान्तमना, आगम मर्मज्ञ, तपोपूत, परम श्रद्धेय आचार्य श्री श्री 1008 श्री रामलालजी म.सा. के प्रति एवं उन्हीं की नेश्राय में श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ के प्रति आबाल वृद्ध का सर्वतोभावेन समर्पण।

संघ के सदस्यों की निष्ठा, आस्था एवं समर्पण भावना श्लाघनीय व अनुकरणीय है।

प्रारम्भिकी

आनन्द का अनुभव सदा काल प्रिय अनुभव है। ऐसे सुखकारी अनुभव को सभी जीवों ने सदा चाहा है, सदा चाहते हैं और सदा चाहते रहेंगे। सभी जीवात्माओं की यह शाश्वत अभिलाषा होती है किन्तु उन्नतगामी आत्माएँ ही सत्य आनन्दानुभूति के पथ पर अग्रगामी बन सकती है।

आनन्द की अनुभूति का विश्लेषण विभिन्न चरणों में विभिन्न प्रकार से किया जाता है तथा उन्हीं विविध विश्लेषणों के आधार पर सत्यानुभूति की शोध की जा सकती है। असत्य, भ्रम एवं द्विधा के विकट वनों को धैर्यपूर्वक पार कर लेने पर ही आनन्द की सत्य अनुभूति साधक के अन्त: करण में अखूट सुख का दिव्य आलोक प्रसारित करती है।

जब जीव संसार के इस रंगमंच पर जन्म लेता है तो वह कोरा 'निज' नहीं होता, 'अन्य' के साथ जुड़ा होता है। फिर यह संसार तो जड़-चेतन का समन्वित क्रीडांगण ही है। जड़ दृश्यमान होता है और चेतन अदृश्य। स्वयं चेतन के लिये भी अपना 'निज' अदृश्य रहता है जब तक कि वह उसे अनुभवगम्य नहीं बनाता, अभिप्राय यह है कि नवागत जीवात्मा का प्रथम परिचय सर्व ओर व्याप्त एवं विस्तृत जड़ लीला से ही होता है। बचपन से यौवन तक और आगे भी भौतिकता के ऐसे उत्तेजक दृश्य जीवात्मा अपनी इन्द्रियों के माध्यम से देखती, सुनती और अनुभव करती है कि ठोस तथ्यों के रूप में वह उन्हीं को सबके बीच आसानी से जानती है।

यही कारण है कि सामान्य रूप से जीवात्माएँ निज के निजत्व को न जानती हुई अन्य के प्रखर अस्तित्व को पहले जानती है। बालक का लालन-पालन जिन पदार्थों से होता है, वे अधिकांशत: भौतिक या कि अन्य होते हैं तथा आन्तरिक मनोभावनाओं का व्यक्तिकरण भी बालक पदार्थ प्राप्ति के रूप में ही देखता है। अत: वह प्रारंभ से पदार्थों की महत्ता को ही जानता है अर्थात् अन्य के साथ ही अपना प्रमुख सम्बन्ध मानता है। फिर यौवन काल में तो खास तौर से भौतिक सुखों का आकर्षण उसे ललचाता है और वह उन्हीं को पाने, बनाये रखने एवं भोगने की राग-द्वेषमय क्रियाओं में बुरी तरह से उलझ जाता है।

कहने का अर्थ यह है कि जीव अपने आनन्द के अनुभव का आरोपण सर्वप्रथम अन्य में ही करता है—पदार्थों में ही उस आनन्द को खोजता और उसे

पा लेने का भ्रम पालता है। वह महसूस करता है कि जब वह मधुर संगीत सुनता है, सुन्दर दृश्य देखता है, सुगंधमय वातावरण में रमण करता है, सुस्वादकारी व्यंजनों को चखता है, सुखद संस्पर्श से आह्लादित होता है अथवा इन सुखों की कल्पना भी करता है तो उसे आनन्द मिलता है।

तो क्या उसके इस आनन्दानुभव को सत्य कहा जायेगा ? किन्तु, सत्यासत्य का निर्णय वह कई चरणों से गुजरने के बाद ही कर पाता है। उस समय तो वह क्षणिकता को भी समझ नहीं पाता और न ही उस आनन्द की नश्वरता को ही वह हृदय में उतार पाता है। उसकी मनोदशा तो एक मदमत्त जैसी होती है कि जब वैसा आनन्द मिल रहा है तो उसे मतिभ्रम हो जाता है। वह उसमें झूमने लगता है और जब वही आनन्द टूटता है तो वह क्रुद्ध होकर उसे फिर से पा लेने के लिये दौड़ लगाने लगता है। यदि वह दौड़ की थकान में सत्य को पाने की ओर न मुड़ सके तो उसी दौड़ धूप में उसका अमूल्य जीवन विनष्ट हो जाता है।

भौतिकता वाले भोगों में फंस जाने तथा अन्य पदार्थों में रमण करने की जीवात्मा की इस अज्ञान दशा को आत्मा का विभाव माना गया है। शाब्दिक अर्थ में विभाव वह जो स्वभाव से विपरीत हो। इस पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर स्वभाव क्या होता है ? यदि आनन्द का ऐसा अनुभव आत्मा का विभाव है तो आत्मा का स्वभाव क्या होगा एवं उस आनन्द का अनुभव कैसा होगा ?

शास्त्रों में स्वभाव को ही धर्म कहा गया है– वत्थु सहावो धम्मो। जिस वस्तु का जैसा मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म होगा। उस धर्म पर अधर्म तब हावी होता है जब धर्म की मौलिक शक्ति क्षीण हो जाती है। तब स्वभाव पर विभाव हावी हो जाता है। एक लकड़ी का टुकड़ा पानी की सतह पर तैरता है—यह उसका मूल स्वभाव है। उस टुकड़े के साथ एक लौह खंड बांध दिया जाय तो वह टुकड़ा तैरने की बजाय पानी में डूब जायगा– उसे उसका विभाव कहना होगा। स्वभाव पर जो विकृतियों के लेप चढ़ते हैं, उन लेपों का भार स्वभाव को छिपा देता है और वे विकृतियाँ ही विभाव के रूप में सक्रिय दिखाई देती हैं। लकड़ी के टुकड़े का तैरना स्वभाव, उसका लौह खंड के भार से डूब जाना उसका विभाव हुआ तो विभाव से स्वभाव में जाने की प्रक्रिया भी स्पष्ट हो गई कि उसके भार को हटा लिया जाय।

एक तथ्य और कि स्वभाव में रमण करने से सात्विक आनन्द की प्राप्ति होती है। जो परिवर्धित होता हुआ सत्य एवं शाश्वत आनन्द की स्थिति तक

पहुँचता है। दूसरी ओर, विभाव में भोगा जाने वाला आनन्द क्षणिक, नश्वर तथा कष्टान्त वाला होता है। विभाव से मिलने वाले आनन्द के दुष्परिणामों को भोग कर ही सत्य आनन्द के अनुसंधान की ओर गति प्रखर बनती है। विभाव से स्वभाव में लौटने की आकांक्षा भी तभी बलवती होती है।

अब आत्मा के स्वभाव एवं विभाव की चर्चा करें। यह चर्चा शब्दों की कम अन्तरानुभव की अधिक होती है-यह मानकर चलना चाहिये। विभाव की गति-स्थिति को तो सामान्यत: सभी मानव जानते पहिचानते हैं। उन्हें समझानी है स्वभाव की अवस्था। विकृत से विकृत एवं पतित से पतित मानव के अन्तरंग में *कुछ लहरें ऐसी होती हैं जो जब चलती हैं तो वैसे मानव को भी भीतर से कुछ शिक्षा* मिलती-सी प्रतीत होती है या कि भीतर की आवाज जैसे उसे जगाती है और इस अन्तरंगता में उसे कुछ ऐसा आनन्द मिलता है जो उसे अनूठा लगता है। इन क्षणों को वह बेभानी में भूल जाय—यह दूसरी बात है किन्तु विवेकशील व्यक्ति उन क्षणों को पकड़ लेता है, उनको बार-बार याद कराके उस आनन्द का बार-बार अनुभव करता है और अन्तत: उन क्षणों को अधिकाधिक स्थायित्व देने के प्रयासों में जुट जाता है।

विभाव से स्वभाव में लौटने की यह प्रक्रिया भीतर ही चलती है और मानव को अनुभव कराती रहती है कि आनन्द का भ्रम या आभास कहाँ है और सच्चे आनन्द का अनुभव कहाँ ? एक साधक के अन्त:करण में ऐसा अभ्यास निरन्तर चलता है जिसके प्रभाव से विभाव क्षीण होता जाता है एवं स्वभाव अधिकाधिक स्पष्ट एवं प्रकाशमान।

मूलत: यह प्रत्यावर्तन ही आत्मा की विकास यात्रा है जो उसे अन्य से हटाकर अनन्य बनाती है। इतना ही नहीं, अनन्यदर्शी बनाती है जिसके फलस्वरूप वह अनन्यदर्शी आत्मा अनन्य आनन्दमयी बन जाती है। इस अनन्यता में ही निजत्व का सम्पूर्ण विकास समाहित होता है।

इस विकास यात्रा के गतिमान चरणों पर ध्यान देना आवश्यक है। इसका पहला चरण है कि साधक अपनी आत्मा का स्वयं ज्ञाता बने। कोई हल्के विचार से कह सकता है कि अपनी ही आत्मा को जानना कौनसी बड़ी बात है। लेकिन उसे ही ऐसा करने को कहा जायगा तो वह बड़ी दुविधा में फंस जायगा। क्योंकि स्वयं की आत्मा का स्वयं ज्ञाता बन जाना एक महान् उपलब्धि है।

आत्मा जब तक अन्य को ही निज मानती रहती है तो वह भ्रम दशा साधारण नहीं होती। विभाव की विकृतियाँ उसे उत्थानगामी नहीं बनने देती। उत्थान की बात तो दूर, उसे उस पतन को पतन भी मानने से रोके रखती है। तब वह पौद्‌गलिक सुखों में ही आनन्दाभास लेती है और उसे ही प्राप्य आनन्द मानती है। यह आत्मा की मूर्छावस्था होती है वैसी ही जैसी कि एक मद्यप की होती है। सुरा पिया हुआ व्यक्ति माँ और पत्नि में भेद नहीं कर पाता क्योंकि वह अपने ज्ञान और विवेक को शून्य बना लेता है। ऐसी मूर्छावस्था से तब तक उद्धार संभव नहीं है जब तक कि आत्मा को अपने ही अस्तित्व का बोध न हो।

आत्मा के अस्तित्व का बोध हो जाने पर ही उसके रूप-स्वरूप को जानने की अभिलाषा जगेगी और उसके मूल स्वभाव को पहिचानने की जिज्ञासा। अत: अपनी आत्मा का स्वयं ज्ञाता बनना एक अति महत्वपूर्ण अवस्था है। आत्मा को जानने में उसके अस्तित्व का अनुभव करना, उसके वर्तमान रूप-स्वरूप का ज्ञान करना तथा उसके मूल स्वभाव को पहिचानना यह सब कुछ समाया हुआ है। स्व का ज्ञाता साधक हाथ में रखी हुई मणि के समान अपनी आत्मा को जानता है।

ज्ञाता हो जाने के पश्चात् दूसरा चरण है कि साधक अपनी आत्मा का दृष्टा बने अपनी आत्मा एवं उसकी वृत्तियों व प्रवृत्तियों को प्रतिक्षण देखता रहे। जब साधक अपनी आत्मा के वर्तमान का एवं उसकी तात्विकता का ज्ञाता हो जाता है तो वह दृष्टा बनकर उसकी गति-विगति का कठोर नियंत्रक भी बन जाता है। प्रतिक्षण अपनी आत्मा याने कि अपनी अन्तरंगता को देखते रहने का अर्थ है कि वह अपने जीवन में पूर्ण रूप से सतर्क बन गया है। वह कभी भी कहीं भी अपनी आत्मा को अन्य में भटकने नहीं देता—मनसा वाचा कर्मणा सदा आत्मगति को ऊर्ध्वगामी बनाये रखता है। वह साधक सफल अश्वारोही के समान अपनी साधी हुई लगाम से आत्मा को अनन्यदर्शिता एवं अनन्य आनन्दानुभूति की दिशा में आगे से आगे बढ़ाता जाता है।

निजात्मा का स्वयं ही ज्ञाता एवं दृष्टा होना इस कारण आध्यात्मिक क्षेत्र की एक महान् उपलब्धि मानी गई है, क्योंकि एक ज्ञाता और दृष्टा साधक ही अपनी आत्मा को अनन्य बनाने के मार्ग पर गतिशील कर सकता है और आत्मा को अनन्य बनाने का मार्ग है समता का मार्ग।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो सर्व आत्माओं की समता के सिद्धान्त को निरूपित करता है। यह सिद्धान्त मूल आत्मिक स्वरूप

की अवधारणा पर आधारित है। आत्मा का मूल स्वरूप दर्पण के समान एकदम स्वच्छ माना गया है। दर्पण पर जिस प्रकार बिना सार सम्हाल के धूल की परतें जमती रहती हैं और उसकी प्रतिबिम्ब क्षमता घटती रहती है, उसी प्रकार आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप पर भी कर्म बन्धन के आवरण चढ़ते जाते हैं एवं उसकी स्वरूप-तेजस्विता को ढकते जाते हैं। कर्मावृत्त आत्मा संसारी आत्मा होती है। यही आत्मा जब अपने संयम एवं तप के बल पर उन आवरणों को मिटाती जाती है तो एक दिन उसका परम शुद्ध स्वरूप भी प्रकट हो जाता है और वही तब सिद्ध आत्मा बन जाती है।

इस सिद्धान्त की महत्ता इस अवधारणा में है कि मूलत: प्रत्येक आत्मा समान स्वरूपी होती है और इसी कारण समान व्यवहार की अधिकारी भी। ऐसा व्यवहार जो उनके कर्मावरणों को भी क्षीण करता जाय और उनके अभ्युदय का मार्ग भी प्रशस्त बनाता जाय। इस विचार की प्राभाविकता संसार के इसी रंगमंच पर भलीभांति अभिव्यक्त होनी चाहिये। न सिर्फ मानव जाति, बल्कि सम्पूर्ण प्राणी जगत् इस सिद्धान्त की सीमा में समावेश पा जाता है। यही विश्व बन्धुत्व अथवा सम्पूर्ण वसुधा के एक परिवार की मान्यता में आता है।

जब यह मान लिया जाता है कि संसार की सभी आत्माएँ समान हैं तथा समान लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ना चाहती हैं तो प्रत्येक मानव का यह सुनिश्चित ध्येय बन जाता है कि वह अपने इस पूरे परिवार की हित साधना में विवेकशील बने। स्वार्थ के संकुचित दायरे को त्याग कर तब वह समग्र प्राणियों के विस्तृत हित के लिए अपनी मानसिकता का निर्माण करता है, वैसी ही वाणी उच्चरित करता है तथा तदनुकूल आचरण को पूर्णत्व प्रदान करने का प्रयास करता है। मानव हृदय का ऐसा ही हितैषी विस्तार समता का मंगमलय मार्ग कहा जाता है।

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दु:ख कोई नहीं चाहता, अत: सबको सुख पहुँचाओ, किसी को भी दु:ख न दो- यह समता का, अहिंसा का प्राथमिक पग होता है। किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना- यह अहिंसा का नकारात्मक रूप है तो उसका सकारात्मक रूप होगा कि प्रत्येक प्राणी को अपने सामर्थ्य से भी आगे बढ़ कर सुख पहुँचाने की हितचिन्ता एवं कार्य विधि में लगे रहो। अहिंसा के इस रूप से अनुपालन में मनुष्य स्वार्थ की विकृति को त्यागता जायेगा और व्यापक हित से जुड़ता चला जायगा।

एक साधक जितना अधिक स्वार्थ से दूर होगा तथा परमार्थ में संलग्न बनेगा, उतना ही अधिक वह समता की दिशा में अग्रगामी बनेगा। जो सबको जान लेता है, वही एक को जानता है तथा जो एक को जान लेता है, वही सबको जान लेता है– इस सिद्धान्त के अनुसार समता की साधना में निरत साधक अनन्य बनता जाता है—उसके लिये एक भी प्राणी– एक भी आत्मा अन्य नहीं रहती। तभी वह अनन्यदर्शिता की ओर कदम बढ़ाता है। अवधारणा में समाने और आचरण में उतरने पर ही दर्शिता का स्तर परिपुष्ट बन सकता है।

समता अवधारणा में समा जाय–इसके लिए स्वयं आत्मा ही ज्ञाता बने। स्वस्वरूप से पूर्णतया परिचय पाने के पश्चात् ही ज्ञाता की अवस्था समुत्पन्न होती है। वह ज्ञाता अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को भी पहिचान लेता है तो उसके वर्तमान कर्मावृत्त स्वरूप को भी जान लेता है। इस दृष्टि से वह सर्व आत्माओं के मूल स्वरूप को उसी भांति मानते हुए उनकी कर्मावृत्तता की भी पहिचान प्रारंभ करता है तथा प्रयास करता है कि वे आत्माएँ भी अपने वर्तमान स्वरूप को जानकर कर्मो को अनावृत्त करने की साधना की ओर गति करें। ऐसा आत्मीय सहयोग उसे सर्वात्माओं के साथ अनुराग भाव से जोड़ता है कि वे सब उसके साथ समान रूप से सम्बद्ध हैं।

अपनी परिपक्वता की ओर बढ़ती हुई समता की यह अवधारणा तब आचरण में उतरती और व्यवहृत होती है जब साधक अपनी आत्मा का स्वयं दृष्टा भी बन जाता है। वह दृष्टा तब अपने कर्त्ता होने पर नियंत्रक लगाम लगा लेता है। वह करता है किन्तु साथ ही साथ देखता भी रहता है कि वह क्या कर रहा है, कैसा कर रहा है, जो कर रहा है वह कितना समतामय है तथा कितना समताहीन ? यह दृष्टि प्रतिक्षण सतर्क रहती है। इस कारण समता साधक की आत्मा जो कुछ भी करती है, वह अधिकाधिक समतामय होता है तथा समतामय होता जाता है।

यह दृष्टा भाव स्वयं की आत्मा को सतत जागृत रखता है कि वह किसी भी स्तर पर सर्वात्म-हितैषिता से विलग न हो। सारा संसार उसकी स्नेहमयी समता की छाया में आ जाता है।

ज्ञाता और दृष्टा बनकर जब साधक अपनी आत्मा की समता को साध लेता है तब वह तीसरे चरण पर प्रतिष्ठित बनता है। वह होता है ध्याता का भाव। तब वह निरन्तर इस ध्यान में रहता है कि उसकी प्रेरणा से अन्य सभी आत्माएँ भी समता के मार्ग पर अविचल बनें और आगे बढ़ें। तब वह अनन्यदर्शी बन जाता

है और समता की सर्व स्नेहमयी रस धारा में स्वयं भी अवगाहन करता है तथा अन्य आत्माओं को भी अवगाहन कराता है। आत्मा की अनन्यदर्शिता ही अनन्त आनन्द की अनन्त अनुभूति प्रदान करती है। जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्य आनन्दी है और जो अनन्य आनन्दी है वह अनन्यदर्शी है– यह एक शाश्वत सिद्धान्त एवं शाश्वत स्थिति है।

महावीर प्रभु ने अपने इस शाश्वत सिद्धात के माध्यम से उन्नतिकामी आत्माओं को प्रेरणा दी है कि वे निरन्तर आत्म-समीक्षण करें और यह जानें कि वे अपने ज्ञाता, दृष्टा एवं ध्याता भावों को विकसित बनाकर समता मार्ग पर निश्चल गति से अग्रगामी बन रही हैं अथवा मंथर गति से लक्ष्य को पाने का प्रयास कर रही हैं। यदि गति मंथर है तो अपनी समता साधना की उत्कृष्टता से उसे उग्र बनाना होगा तथा समता के उच्च शिखर पर आरूढ़ बनकर अनन्यदर्शी एवं अनन्य आनन्दी बनना होगा, क्योंकि वहां पहुंचकर ही सदा के लिए शाश्वत आनन्द का स्थायी रसास्वादन लिया जा सकता है। वही इस मानव जीवन का एवं कर्म मुक्ति का चरम ध्येय है।

किन्तु समता के सर्वोच्च शिखर पर आत्मा को पहुँचायेगा कौन ? कोई अन्य नहीं पहुँचायेगा, स्वयं इसी आत्मा को अपने आत्म समीक्षण एवं समतामय आचरण के आधार पर वहां पहुँचाना होगा। आत्मा तो स्वयं कर्त्ता है, वह किसी की आश्रित नहीं। इसकी जो विवशता जाहिर होतीहै वह इसकी कर्तावृत्तता के कारण है। किन्तु जब और जितनी यह आत्मा कर्मों से अनावृत्त होती जाती है, तब और उतनी उसकी तेजस्विता, कर्मठता एवं शक्ति सम्पन्नता भी अभिव्यक्त होती जाती है।

आत्मा के इसी मूल एवं पूर्ण स्वरूप को प्रकट करने का सशक्त साधन है आत्म समीक्षण। समीक्षण का अर्थ है समतामयी दृष्टि से देखना। यह इस रूप में देखने का काम करती है साधक की आत्मा, और वह देखती है उस दृष्टि से संसार की सभी आत्माओं को। इस दर्शिता से विकसित होती है उसकी अभेद दृष्टि कि उसकी अपनी आत्मा और संसार की अन्य सभी आत्माओं में एक प्रकार से भेद नहीं है, एक प्रकार की समानता है। आत्म समीक्षण इस प्रकार एक ओर समता भावना को परिपुष्ट बनाता है तो दूसरी ओर आत्मा के ज्ञाता, दृष्टा एवं ध्याता भावों को क्रमशः विकास की ओर ले जाता है।

आत्म समीक्षण ही आत्मा के समतामय विकास का मूल मंत्र है। आत्म-समीक्षण के ध्यान एवं अनुष्ठान के बल पर आत्मा स्वयं ही स्वयं को ऊर्ध्वगामी बनाती है। यह समीक्षण केवल दृष्टा भाव का ही परिचायक नहीं होता, अपितु दृष्टा एवं ध्याता भाव के सामंजस्य से जो एक समता दृष्टि विकसित होती है– यह समीक्षण उसी अवस्था का प्रतीक माना जाना चाहिये।

आत्म समीक्षण चिन्तन एवं आचरण की वह प्रक्रिया है जो आत्मा में उन्नति की आकांक्षा पैदा करती है, उसे विकास के पहले सोपान पर स्थापित करके विभाव के भटकाव को हटाकर स्वभाव में प्रत्यावर्तित होने की प्रेरणा देती है और तब उसे ज्ञाता, दृष्टा एवं ध्याता भावों का परिपक्व अभ्यास कराती है ताकि वह आत्मा समता के धरातल से उसके सर्वोच्च शिखर तक प्रगति करती ही रहे। अन्य को अपने समता क्षेत्र में समाहित करके वह अनन्य बने और अनन्य आनन्द की अनुभूति लेते हुए अन्य आत्माओं को भी उस आनन्द से आप्लावित बनावे।

वर्तमान परिस्थितियों में, जबकि लोगों का अधिक रूझान भौतिक एवं पौद्‌गलिक सुखों की तरफ बढ़ रहा है, इस आत्म समीक्षण का महत्त्व अधिक प्रासंगिक एवं उपयोगी हो जाता है। अपनी वैभाविक परिणति के कारण अधिकांश आत्माएँ भौतिक सुखसाधनों से परिपूर्ण बाह्य परिवेश में ही अपने आपको अनुरंजित मानने लगी हैं या कि उसी विपरीत दिशा में गति कर रही हैं। एक प्रकार से आज का जन-मानस ऐसी विभावपूर्ण बाहर की जिन्दगी जीने का ही अभ्यस्त हो रहा है। यह अभ्यास भी ऐसी जड़ स्थिति तक पहुँचता जा रहा है, जहाँ इन आत्माओं को अपने ही मूल-शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की अन्तर्यात्रा प्रतिकूल प्रतीत होने लगी है। यदि इन्हें निज-विकास की पिपासा न रही, अपने अनन्य स्वरूप को विस्तृत बनाने की आकांक्षा न बनी और आचरण को श्रेष्ठतर एवं श्रेष्ठतम बनाने की अभिरुचि क्षीण होती रही तो वह आध्यात्मिक क्षेत्र की एक महान क्षति होगी। अत: आवश्यक है कि आत्म समीक्षण का अभ्यास अपनाया जाय चिन्तन और कर्म में तथा समीक्षण से समता की साधना की जाय।

आत्म समीक्षण के सतत अभ्यास से ही आत्मा को स्व-बोध होगा और वह तत्त्वों की हेयता, उपादेयता एवं ज्ञेयता को भलीभांति जान सकेगी तथा तदनुसार तत्त्वों से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन और दर्शन से चारित्र को समुन्नत बना सकेगी। समता से विभूषित यही रत्न त्रय का मार्ग है जो आत्मा के समस्त कर्मावरणों को हटा कर उसे मुक्ति के अनन्त आनन्द में सदा काल के लिए प्रतिष्ठित कर देता है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'आत्म समीक्षण' में इसी दृष्टि से उत्तम पुरुष में लेखन किया गया है कि प्रत्येक आत्मा का, जो भी इसे पढ़े–यह भाव चिन्तन बन सके। इसका पठन करते हुए वह तल्लीन बन सके कि यह सब कुछ उसके अपने चिन्तन के लिए है और उसके अपने समतामय उत्थान के लिए है। उत्तम पुरुष का प्रयोग एकात्मता प्राप्त करने के लिए ही किया गया है– यह उत्तम पुरुष व्याख्याता या सम्पादक का नहीं है, मुख्य एवं सामान्य रूप से प्रत्येक पाठक का है कि वह इस चिन्तन के साथ अपने आत्म भावों को घनिष्ठ रूप से जोड़ ले। उत्तम पुरुष में आध्यात्मिक विवेचन का अपना विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र में भावना का महात्म्य होता है। इसी कारण अपनी ही आत्मा को सीधे सम्बोधित करने वाले लेखन को जब भावपूर्वक पढ़ा जाता है तो उसमें एक निजत्व का भाव समाविष्ट हो जाता है। ऐसा लगता है कि यह सब कुछ सम्बोधन कोई अन्य नहीं कर रहा, बल्कि वह स्वयं ही अपनी आत्मा को कर रहा है तथा आत्मा की गति-विगति का जो सम्पूर्ण विवेचन है, वह जैसे उसकी अपनी आत्मा से ही संबंधित है। इसी आत्म जागृति के भाव से इस ग्रंथ का प्रवचन-सम्पादन हुआ है और पाठकों को भी उसी भाव से इस ग्रंथ का पठन-पाठन एवं अध्ययन करना चाहिये– ऐसी अपेक्षा की जाती है।

'आत्म समीक्षण' में जिन नौ सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है, वे आत्म-सम्बोधक एवं प्रेरक सूत्र हैं। ये बताते हैं कि आत्मा के मूल एवं शुद्ध स्वरूप से सम्बन्धित तत्त्व कौनसे हैं तथा उन्हें आचरण के माध्यम से पाने के लिये किस प्रकार का नित्य प्रति का चिन्तन बनाना चाहिये, कौनसे आत्म विकास के संकल्प धारण करने चाहिये तथा आत्मा के पराक्रम का किस रूप में विस्फोट किया जाना चाहिये कि वह अनन्यदर्शिता एवं अनन्यानन्द अनुभूति के लक्ष्यों को प्राप्त कर सके एवं समता के सम्पूर्ण आदर्श को साकार बना सके।

सभी प्रकार के वचन एवं व्यवहार विचार के स्रोत से प्रस्फुटित होते हैं, अत: यदि विचारों में सर्वप्रथम समता का समावेश किया जाय तो वह समता वचन एवं व्यवहार के प्रवाहों से सुप्रकट हो सकेगी। विचारों के स्वस्थ निर्माण का एक मात्र साधन है–चिन्तन, सतत चिन्तन, निरन्तर चिन्तन और उसी चिन्तन को समता की रस धारा में डुबो कर प्रवहमान बनायेगा आत्म समीक्षण अर्थात् आत्मा को जानो, देखो, ध्याओ और अनन्त आनन्द में निमज्जित हो जाओ।

अनुक्रम

अध्याय एक

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

आत्म-समीक्षण

'जे अण्णणदंसी, से अण्णारामे,
जे अण्णारामे, से अण्णणदंसी'

जो मनुष्य समतामयी आत्मा के दर्शन करने वाला होता है, वह अनुपम प्रसन्नता में रमण करता है।

और जो अनुपम प्रसन्नता में रमण करता है, वह समतामयी आत्मा के दर्शन करने वाला होता है।

आत्म-समीक्षण

श्री आचारांग सूत्र में कहा गया है कि–

'जे अण्णणदंसी, से अण्णणारामे,

जे अण्णणारामें, से अण्णणदंसी'

जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्यारामी है और जो अनन्यारामी है वह अनन्यदर्शी है।

अन्तर्यात्रा का आनन्द

अनादिकालीन संसार परिभ्रमण के कारण आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर अधिकांशतः अपने विभाव में स्थित हो रही है। फिर भी यह हर्ष का विषय है कि अब सामान्य जीवन एक नये वैचारिक मोड़ पर आकर खड़ा हो गया है। वर्तमान विषय एवं विपरीत परिस्थितियों ने बुद्धिवादियों एवं विचारकों के हृदयों को आन्दोलित कर दिया है और वे इन ज्वलन्त परिस्थितियों के संदर्भ में सोचने लगे हैं कि क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे मानसिक तनावों से मुक्त होकर स्थायी सुखानुभव किया जा सके ? यही अन्तरदर्शन या अन्तर्यात्रा की ओर गति करने का आशाजनक संकेत है।

यही नहीं, स्वयं वैज्ञानिक भी विज्ञान के तथाकथित विकास के प्रति सशंक और चिन्तामग्न हो गये हैं कि क्या विज्ञान का यह अतिशय विकास स्वयं मानव जीवन का ही घातक तो नहीं हो गया है ? छोटी–सी मशीन से लेकर कम्प्युटरी रोबोर्ट तक जो यह यांत्रिक विकास हुआ है, उससे एक ओर तो मनुष्य की मानसिक यंत्रणाएँ बढ़ गई हैं तो दूसरी ओर वायु प्रदूषण आदि दोषों से भांति–भांति के शारीरिक रोग फैल गये हैं।

यह स्थिति चौंकाने वाली बन गई है। सामान्य जन तक भी सोचने लगे हैं कि आज जिसे विकास कहा जा रहा है, क्या वह विकास भी है ? कहीं यह तो नहीं है कि यह विकास ही विनाश का रूप ले रहा है ? हम पूर्व वाले पश्चिम की दृश्यमान चमचमाती सभ्यता से आकर्षित हुए थे और उस दिशा में दौडने लगे थे किन्तु अब वह मोड़ आ गया है जहाँ हम अपनी विपथगामिता को महसूस करने लगे हैं। इस कारण ही अब यह समझ फैलने लगी है कि विकास की जो दिशा हमने पकड़ी थी, वह गलत थी। हम अपना सुख अब तक बाहर ही बाहर खोजते रहे हैं और यही हमारी भूल थी। जो

सुख वास्तव में अपने ही भीतर में बसा हुआ है और जिसे हम अन्तर्यात्रा को सफल बनाकर प्राप्त कर सकते हैं, वह भला बाहर कहाँ और कैसे मिलता ?

वैचारिक दृष्टि से सामान्यजन तक में यह जो नया मोड़ आया है, इसे ही स्वस्थ रूप देकर हम आध्यात्मिक दिशा की ओर ले जा सकते हैं। आज करीब–करीब सभी वर्ग–पूर्व के ही नहीं बल्कि पश्चिम के भी सभी वर्ग वैज्ञानिक विकास के इस भयावह रूप से संत्रस्त हो रहे हैं और आकुल–व्याकुल होकर सुख के नये क्षेत्रों तथा नये स्रोतों की शोध कर रहे हैं। यह शोध की प्रवृत्ति ही हमें अन्तर्यात्रा की दिशा में आगे बढ़ा सकेगी।

सुख के शोध की यह अन्तर्यात्रा हमें आरम्भ करनी होगी अपने ही मन से, क्योंकि यह मन बाह्य एवं आभ्यन्तर जगत् के मध्य की कड़ी है। आज यह मन बाहर के विषयों में ही भटक रहा है–इसको साधना पड़ेगा और उसे एकाग्र बनाकर भीतर गहराई में उतारना होगा। मन की ऐसी साधना ही अन्तर्यात्रा की साधना बन सकेगी। इसमें चित्तवृत्तियों पर नियंत्रण की क्षमता बढ़ानी होगी तो उनके संशोधन के विविध प्रयोग भी कार्यान्वित करने होंगे। चित्तवृत्तियाँ अशुभ योगों से शुभ योगों में प्रवृत्ति करे–यह कोई सरल कार्य नहीं है। फिर यह आत्मा भी तो अनन्त काल से वैभाविक वातावरण में चल रही है जिसके कारण चित्तवृत्तियों में यह परिवर्तन लाना सहज रूप से संभव नहीं है। विपथ पर दौडते हुए चित्त को नियंत्रण में लेना एक भगीरथ कार्य है। कई साधकों ने कई प्रयोग इस हेतु किये हैं किन्तु उनके कई प्रयोग इस दिशा में विफल भी रहे हैं। कारण, जब तक आत्मा के मूल स्वभाव का सम्यक् ज्ञान नहीं हो तथा विपथ से मन को नियंत्रित करने की सम्यक् विधि अपनाई नहीं जाय, तब तक कोई भी प्रयोग सफल नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में वीतराग देवों ने संयमीय साधना की प्रकीर्णता के बाद अन्तरज्ञान को पाकर जो मनस्साधना एवं ध्यान का प्रयोग बताया है, उसी को केन्द्रस्थ बना कर साधना रूप अन्तर्यात्रा का श्रीगणेश किया जा सकता है।

आज प्रायः सम्पूर्ण जीवन बाह्य यात्रा में ही व्यस्त बना हुआ है। चौबीसों घंटे मनुष्य बहिर्दर्शन की दिशा में ही दौड़ रहा है। बाहर की प्रतिस्पर्धात्मक दौड से उसे तनिक भी अवकाश नहीं है कि वह अन्तर्यात्रा के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान भी करे। अतः अन्तर्यात्रा विषयक चिन्तन का अभाव है। किन्तु वर्तमान युग की विषमताओं से वह अवश्य घबरा उठा है। इस घबराहट ने उसके मन में यह विवशता जरूर पैदा कर दी है कि भीतर में सुख को खोजे। इस कारण वह आत्म चिन्तन की तरफ अव्यक्त रूप से

मुड़ा है—यह कहा जा सकता है। उसकी इस मनोदशा में यदि आत्म समीक्षण की भावना जगाई जाय और मन को सन्नद्ध बनाया जाय तो वह अपनी अन्तर्यात्रा के विषय में चिन्तनशील बन सकेगा। चिन्तनशीलता की भूमिका पर यदि मनुष्य के मन को आरूढ कर दिया जाय तो निश्चय ही वह आत्म—साध ना के प्रति आकृष्ट हो जायेगा।

एक वार जब मनुष्य के मन की साधक के रूप में रचना हो जायगी, तव उसकी अन्तर्यात्रा की पिपासा अधिकाधिक तीव्र बनती जायेगी। मन की साधना में उसकी अभिरुचि भी बढ़ेगी एवं अनुभूति भी परिपुष्ट होगी। इसका वास्तविक कारण यह होगा कि उसे भीतर आनन्द का ऐसा स्रोत फूट निकलेगा जो उसे अनुपम लगेगा। इस आनन्द का रसास्वादन उसके अन्तःकरण में समुचित मनोभूमि का निर्माण करेगा जिसमें फिर अपनी चित्तवृत्तियों पर नियंत्रण कर लेना कठिन नहीं रह जायेगा। तब साधना में भी एक नई दृढ़ता की ज्योति जाग जायेगी।

समीक्षण ध्यान साधना

मन की साधना के सम्बन्ध में अगणित प्रयोग प्रचलित हैं जैसे हठयोग, भक्तियोग, लययोग, कर्मयोग, सहज योग आदि। इनमें से सहज योग की साधना अवश्य अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है जिसके माध्यम से तनाव मुक्ति एवं शान्ति से साक्षात्कार किया जा सकता है। किन्तु इतना अवश्य है कि किसी भी आत्मदर्शन की साधना की प्रारंभिक भूमिका मन की साधना ही होगी। मन की साधना में मुख्य रूप से चित्तवृत्तियों के नियंत्रण एवं संशोधन पर वल दिया गया है। यद्यपि यह कार्य आसान नहीं है और अधिसंख्य साधकों के प्रयास विफल हो चुके हैं, फिर भी जो स्वानुभूति से प्रवोध लेते चलते हैं तथा स्थायी सुख का मार्ग खोजते हैं एक दिन सफलता उनके चरण अवश्य चूमती है।

स्वानुभूति की परिपुष्टता की दृष्टि से उपरोक्त प्रयोगों की श्रृंखला में जो समीक्षण ध्यान पद्धति का सृजन किया है, वह यदि निष्ठा के साथ साधको द्वारा अपनाई जाय तो विश्वास है कि स्वानुभूति की सक्षमता अभिवृद्ध की जा सकती है। मेरा यह विश्वास इस समीक्षण ध्यान पद्धति के सफल प्रयोगों पर आधारित है। कई साधक इस पद्धति को अपना रहे हैं और उन्हें इसके सुपरिणाम भी प्राप्त हो रहे हैं।

समीक्षण ध्यान पद्धति है क्या ? अपने समस्त जीवाजीव पदार्थो को सम्यक् प्रकार से देखना। क्या यह देखना इन चर्म चक्षुओं से संभव होगा ?

कतई नहीं। यह देखना संभव हो सकेगा मात्र ज्ञान चक्षुओं के माध्यम से और इस कारण पहले अपने ज्ञान चक्षुओं को उघाडना होगा। यह पहले अन्तर्चक्षुओं को खोलेगी। समीक्षण ध्यान साधना से पहले भूमिका की शुद्धि आवश्यक बताई गई है। इस ध्यान की भूमिका है मानस पटल और ध्यान की सफलता के लिए पहले इसी पटल को विशुद्ध बनाना होगा।

ध्यान साधना का अर्थ होगा कि मनुष्य बाह्य जगत् से अपने आपको संकुचित बनावे तथा अपने अन्तःकरण में प्रवेश करे। इसका उद्देश्य होगा विश्रृंखलित बनी चित्तवृत्तियों का विशोधनपूर्वक नियंत्रण करना। अनन्तकाल से बहिर्मुखी बनी हुई इन वृत्तियो को सुनियोजित करने के लिए विशेष प्रकार की भूमिका की आवश्यकता होगी। किसान बीज वपन के पहले जैसे अपने क्षेत्र की शुद्धि करता है, वैसी ही कोशिश एक साधक को भी विकेन्द्रित वृत्तियों के नियन्त्रण से पहले स्थान, वातावरण की शुद्धि तथा संकल्पशक्ति की दृढता के रूप में करनी होती है।

सर्वप्रथम मन की साधना के प्रति तीव्रतम संकल्प की आवश्यकता होगी। यह एक मनौवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने ही संकल्प, अपने ही विकारा या पतन की दिशा का निर्धारण करते हैं। किसी भी दिशा में अग्रगामी बनने के लिए संकल्पों की तीव्रता अपेक्षित होती है। संकल्प जितना सुदृढ़ होता है, तदनुसार उसका आचरण भी अधिक सक्रिय होता है। इसलिए साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले सत्संकल्प की सुदृढ़ता वांछनीय और अनिवार्य है। सत्संकल्प की परिपूर्णता के साथ साधना निश्चित रूप से अधिक गतिशील होगी।

दृढ संकल्प के बाद स्थान तथा वातावरण का भी एक ध्यान–साधक के चित्त पर प्रभाव पडता है। ध्यान साधना के लिये उपयोगी स्थान वही माना जायेगा, जो एकान्त, शान्त, नीरव तथा इन्द्रियाकर्षण के पदार्थो से रहित हो। स्थान यदि उपयोगी नहीं हो तो साधना में विघ्न पड़ते रहते हैं जिनके कारण परिणाम प्राप्ति की अवधि लम्बी हो जाती हैं। इसलिये द्रव्य और भावरूप उभयमुखी शुद्धि वाले स्थान का चयन किया जाना चाहिये। इसी प्रकार आस–पास का वातावरण भी साधक के ध्यान–सम्बल को डिगाने वाला नहीं, बढाने वाला होना चाहिये। अन्तर्प्रवेश के लिए सहजता अनिवार्य होती हैं और सहज सरल परिधान, स्थान तथा वातावरण की उपस्थिति में सहजता का सम्यक् विकास सरल बन जाता है।

मनौवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार समय के साथ में भी मन का तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अतः समीक्षण ध्यान की साधना में समय की नियमितता भी आवश्यक होगी क्योंकि नियमबद्ध समय पर स्वतः ही साधना की स्मृति हो आयेगी तथा उसमें प्रवृत्त हो जाने की लगन लग जायेगी। समय की नियमितता सध जाने पर साधक के मन की क्रियाशीलता स्वचालित जैसी हो जायेगी। ध्यान के लिए सर्वोत्तम समय ब्रह्म मुहूर्त्त याने कि रात्रि का अन्तिम प्रहर और सूर्योदय के साथ प्रथम प्रहर का समय माना गया है।

तब यह समीक्षण ध्यान अपने विधि क्रम से साधा जाना चाहिये। ध्यानारंभ से 'आधा घंटा पूर्व साधक को निद्रा त्याग देनी चाहिये ताकि दैहिक चिन्ताओं से निवृत्त होकर वह यथासमय साधना में प्रवृत्त हो सके। तब साधक सामान्य आसन पर माला, मुखवस्त्रिका आदि साधन सामग्री लेकर बैठे और यथा सुविधा सामायिक या संवर का प्रत्याख्यान ले। वन्दन–नमन द्वारा साधक पहले अपने प्रमाद को भी मिटावे तो अपनी वृत्तियों में मान को हटाकर नम्रता का संचार भी कर दे। विधिपूर्वक तीन बार आवर्तन सहित वन्दन करने से वक्षस्थल की मांस पेशियों में नये रक्त का संचार होगा इससे प्राण वायु की ग्रहण क्षमता बढ़ जायेगी। फिर पद्मासन से बैठकर साधक ध्यान में बैठ जावे–किसी प्रकार का तनाव अपने भीतर न उठने दे। सहज भाव से मेरूदंड सीधा और सरल रहे। ध्यान की इस मुद्रा में निरहंकारी वृत्ति की स्पष्ट झलक होनी चाहिये।

इस विध ध्यान में स्थित हो जाने के बाद यों समझिये कि अपनी अन्तर्यात्रा का यह आरम्भ है। इस यात्रा का आरंभ ही आन्तरिक चिन्तनशीलता को उभारता है कि सारा जीवन और सारा समय हमने सांसारिक विषयों के पीछे लगा रखा है तो क्या मात्र इस मामूली से समय की ध्यानावस्थितता से काम चल जायेगा ? तब भीतर ही भीतर एक असन्तोष उमड़ने घुमड़ने लगता है और ध्यान के लिए अधिक उत्साह व अधिक समय की अभिलाषा जागती है– अन्तर्दर्शन की पिपासा बलवती होती है। इस चिन्तन के साथ साधना के लिए समुचित एवं सहयोगी मनोभूमि का निर्माण होता है जिसके कारण चित्तवृत्तियों को सम्यक् दिशा में मोडना अधिक कठिन नहीं रहता।

संकल्प की दृढता, परिवेश की शुद्धता, वातावरण व स्थान की पवित्रता तथा विनय–विवेकपूर्वक त्याग भावना की ओजस्विता के द्वारा साधना को श्रेष्ठ सम्पुष्टि प्राप्त हो जाती है। तब साधक को मन की गतिविधि पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये तथा उसे समझकर आवश्यक निर्देश

संकल्पित किये जाने चाहिये। यह प्रयास होना चाहिये कि मन कम से कम साधना की निर्धारित कालावधि में तो दिये गये निर्देशों का पालन करे ही। उसकी सारी बहिर्गमिता की दौड़ तब तक के समय के लिए तो शान्त कर दी जानी चाहिये। साधक के संकेतों के विपरीत उसका मन एक क्षण के लिये भी नहीं चले–इसका निरन्तर अभ्यास किया जाना चाहिये। जितने दृढ़ संकल्प के साथ साधक अपने मन को निर्देश देगा, वस्तुतः मन भी उतनी ही सक्रियतापूर्वक उन निर्देशों का अनुसरण करने लगेगा। निर्देशों का संकल्प के साथ सयुंक्त होना आवश्यक है। साधक जब अपने ऊर्जायुक्त संकल्प का सहयोग लेगा तो मन की समस्त वृत्तियाँ अपने केन्द्र का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं रह सकेंगी। किसी प्रकार की आंधी उन वृत्तियों को अपने साथ बहा नहीं सकेगी। लेकिन यह सब संभव हो सकेगा तीव्रतम संकल्प के साथ निश्चित अवधि तक इन्द्रियों एवं मन पर सम्यक नियंत्रण रखने के कठिन प्रयास के माध्यम से ही। परमोच्च भावना और परमात्मा की साक्षी से लिया गया ऐसा संकल्प, उस अवधि में इन्द्रियों को उनके विषयों के आकर्षण विकर्षण में लिपटने नहीं देगा। वे पापजनक असत्य वृत्तियों में भी नहीं जा सकेगी तो वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि के प्रलोभन में भी नहीं गिरेगी। ऐसे संकल्प से इन्द्रियों को प्रशस्त संबल मिल जायेगा जिसका आश्रय लेकर वे समस्त प्राणियों की रक्षा में सावधान बन जायेगी और विश्वमैत्री की उच्च भावना के अनुसार कार्य करेगी।

समीक्षण ध्यान में केन्द्रस्थ होने के लिये मन के स्वरूप एवं उसकी गतीविधि को बारीकी से समझना जरूरी है। वस्तुतः मन एक बालक के समान स्वभाव वाला होता है नादान और चंचल। चंचलता के कारण यह संभव होता है कि किसी भी चीज का उपयोग विकास के लिये नहीं, विनाश के लिए कर दिया जाता है। एक बालक के हाथ में कुल्हाड़ी आ जाय तो वह उस का उपयोग सबसे पहले अपने घर के दरवाजों पर ही करना शुरू कर देगा। उस समय जितने स्नेह, जितने विवेक और जितनी कुशलता से बालक को समझाया जा सकता है, मन को सही राह पर लगाने के लिए उससे भी अधिक स्नेह, विवेक और कुशलता की आवश्यकता होगी। इसका कारण यह है कि मन हर समय क्रियाशील रहता है और उसकी क्रियाशीलता जितनी अनुपयोगी होती है, वह शैतान का घर बनता जाता है। इसलिये मन की विपथगामिता को रोकने तथा उसे सम्यक् दिशा में प्रवर्तित करने के लिये भी अद्‌भुत कौशल चाहिये। यही कौशल समीक्षण ध्यानाभ्यास से प्राप्त होता है।

मन को काम चाहिये–क्रिया चाहिये, आप उसे सही काम और क्रिया दे देते हैं तो वह और दौडेगा एवं आपके उद्देश्य को सफल बनाने में जुट पड़ेगा। यदि आप उसे व्यवस्थित दिशा नहीं दे पाते हैं तो वह बिगड़ैल बच्चे की तरह इधर–उधर भटकेगा ही। तब वह विध्वंस के सूत्रों को ही पकडता रहेगा। अतः मन के मननपूर्ण स्वभाव को एक साधक समझें और उसकी गतिशीलता को शुभता की ओर मोडें। मन तो हर समय गति करेगा ही इसलिए उसे स्थिर नहीं करना है बल्कि उसकी गति को शुभ मोड़ देना है। मनस्साधना का यही अर्थ है कि मन की गति–दिशा को परिवर्तित कर लेना। उसे असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश की ओर मोड लेना ही इस साधना का ध्येय है। यह मानस–परिवर्तन आत्मा को उसके विभाव से निकाल कर स्वभाव में अवस्थित बना देगा।

संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मो से संपृक्त बनी हुई है जिससे उसका मूल विशुद्ध रूप मलिन हो गया है। इस मैल को अनियंत्रित मन और इन्द्रियां बढ़ाती ही जाती हैं जो परत–दर–परत बहुत गाढ़ा और चिकना हो गया है। इस मैल को दूर करने का एक ही उपाय है कि विकार बढ़ाने वाली इन्द्रियो पर ही अपना अनुशासन स्थापित किया जाय और इसमें सहायता करता है समीक्षण ध्यान अर्थात् वृत्तियों के संशोधन, उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण की साधना। इस साधना का यह उद्देश्य कतई नहीं है कि मन को गतिहीन बना दिया जाय अथवा वृत्तियों का अवरूंधन कर दिया जाय। वृत्तियों के संशोधन, उदात्तीकरण तथा रूपान्तरण का कार्य करेगी समीक्षण ध्यान साधना, जो मन की गति को रोकेगी नहीं, शुभ दिशा में मोड देगी। साधक मन की गति को मोड़ेगा और मन इन्द्रियों को मोडेगा। यह क्रम चलता रहेगा और नियंत्रण का चक्र भी सुचारू रूप से घूमता रहेगा।

समीक्षण ध्यान के परिप्रेक्ष्य में 'समीक्षण' का अर्थ संदर्भ स्पष्ट हो जाना चाहिये। समीक्षण शब्द का अर्थ है सम्यक् रीति से अथवा समतापूर्वक देखना–निरीक्षण करना। यह शब्द दो शब्दों सम्+ईक्षण के संयोग से बना है। इसका भावार्थ यह हुआ कि अपनी ही वृत्तियों को हम सम्यक् रीति से समभाव पूर्वक देखे और निरन्तर उनका निरीक्षण करते रहें। फलस्वरूप चित्तवृत्तियो की कलुषितता हमको समझ में आयेगी तो यह भी समझ में आयेगा कि उनका परिशोधन कैसे किया जाय ?

समीक्षण ध्यान हमारे ज्ञान–चक्षु खोलेगा ही नहीं, बल्कि वह स्वयं ज्ञान–चक्षु रूप बन जायेगा। एक साधक कालुष्य को देखेगा तभी उसका परिशोधन भी कर सकेगा। अपनी प्रारंभिक भूमिका में वह केवल अपनी चित्तवृत्तियों का सम्यक् निरीक्षण ही कर सकेगा। निरीक्षण से ही वह जान सकेगा कि मन किन–किन अशुभ प्रवृत्तियों में गतिशील हो रहा है ? उन प्रवृत्तियों के उद्दीपक हेतु क्या–क्या हैं ? इस जानकारी के बाद ही उन वृत्तियों की अशुभता से शुभता में प्रवृत्ति हेतु साधक अपने प्रयासों को तेज कर सकेगा। इस प्रकार का अनुचिंतनपूर्ण निरीक्षण ही समीक्षण ध्यान की भूमिका का कार्य करेगा।

समीक्षण की इस प्रक्रिया के साथ व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध स्थूल चिन्तन की ओर मुड़ना होगा। व्यक्ति अकेला नहीं होता, वह अपनी सामाजिकता से भी बंधा हुआ होता है और इसलिये उसे समाज, परिवार अथवा अन्य संगठनों से सम्बन्धित प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होना पड़ता है। यह उसकी व्यावहारिक अनिवार्यता है। इसलिये अपनी साधना के समय साधक को यह चिन्तन करना चाहिये कि विवशतावश उसको अपने समाज या अन्य संगठनों से सम्बन्धित अशुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होना पड़ता है यह उसकी आत्मिक दुर्बलता है। अशुभ को अशुभ रूप में स्वीकार कर लेने से भी साधना को बल ही मिलता है। ऐसा ही विचार अपने अनैतिक आचरण के प्रति भी उठना चाहिये और साथ–साथ उस दुर्बलता को यथासाध्य शीघ्रातिशीघ्र दूर करने का भी मानस बनना चाहिये। विवशताजन्य असत्प्रवृत्तियों के प्रति पश्चात्ताप की भावना उभरनी चाहिये। इससे प्रायश्चित लेने की धारणा बनेगी क्योंकि प्रायश्चित उस भूल के प्रति सावधानी रखने के भाव का गहरा अंकन कर देता है। मन पर गंभीर प्रभाव को अंकित बनाये रखने का सरल उपाय यह है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक इच्छित वैषयिक पदार्थ उसे न दिये जाय जिससे उसकी आसक्ति टूटती चली जाय। टूटती हुई आसक्ति में उसको जो संकल्पपूर्वक निर्देश दिये जायेंगे, उसकी पालना वह अवश्य करेगा। निर्देश देने के समय यह ध्यान में रखा जाना चाहिये कि मन की उन वृत्तियों का भी रूपान्तरण हो जो विवशता, प्रमाद अथवा दुर्बलता के घेरों में बंधी हुई हैं। उन वृत्तियों को भी जब परिमार्जित करने का पुरुषार्थ प्रकट होगा, तब समीक्षण ध्यान का भी वैज्ञानिक रूप अधिक सक्रिय बन जायेगा। यह सही है कि सभी भूलों या त्रुटियों का एक साथ परिमार्जन नहीं हो सकेगा किन्तु स्थूल वृत्तियों को शुभता की ओर मोड़ने के साथ सूक्ष्म दोषों पर भी साधक की दृष्टि अवश्य चली जायेगी। इस प्रकार जब तक चित्त में समीक्षण के प्रति

उत्साह, उमंग और मन की गहरी भूख बनी रहे तब तक साधक आत्मावलोकन अथवा व्यवहार–दर्शन की इस प्रक्रिया में संलग्न बना रहे। चिन्तन का समय इस तरह बढाया जाता रहे कि उससे मन ऊबे नहीं। क्योंकि शुरू में ही मन ऊब जायेगा तो वह चिन्तनशील आगे नहीं बढ सकेगी।

समीक्षण का द्वितीय चरण

जीवन के व्यावहारिक परिवेश में मनोवृत्तियों का समायोजन करने के बाद आत्म लक्ष्य में प्रवेश का समीक्षण का द्वितीय चरण प्रारंभ होता है। और यह चरण होता है आदर्श स्थिरता का। किसी भी उच्च आदर्श की स्थिरता के अभाव में साधना में अबाध गति उत्पन्न नहीं होती है। साधना का ही प्रश्न नहीं, किसी भी शुभ कार्य के प्रति तब तक समर्पित भाव उत्पन्न नहीं होता है जब तक कि कोई आदर्श–कल्पना सामने न हो। एक व्यवसायी भी अपने व्यवसाय को प्रारंभ करने से पूर्व किसी समर्थ सफल व्यवसायी को आदर्श मानकर ही व्यवसाय के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है। ठीक इसी प्रकार साधना के क्षेत्र में कदम बढ़ाने से पहले किसी आदर्श को सामने रखना अनिवार्य है। किन्तु यह आदर्श परमोच्च एवं परम श्रेष्ठ होना चाहिये। यह आदर्श जितना उच्चतम होगा, उतनी ही साधना की गति ऊर्ध्वगामी बनेगी। इसलिये अपना आदर्श निर्धारण करने में जागृत वृत्ति की आवश्यकता होती है।

प्रश्न है कि आदर्श कैसा होना चाहिये ? आदर्श वही हो जो अपने लक्ष्य का सर्वोत्तम प्रतिमान बन सके। वह लक्ष्य क्या है ? वह लक्ष्य है आत्मा को सर्वविशुद्ध रूप प्रदान करके सिद्धावस्था तक पहुँचाने का। साधक का प्रथम चिन्तन इस दृष्टि से आदर्श का अनुचिन्तन ही होगा जो यह भान दिलाता है कि यह मानव–जीवन मात्र इसी जीवन तक सीमित नहीं है। यह विभिन्न योनियों मे परिभ्रमण करते हुए ऐसे सशक्त साधन के रूप में मिला है जो आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनुकूल वातावरण प्रदान करता है। इस जीवन और अन्य दुर्लभ प्राप्तियों के पश्चात् आत्म–कल्याण के लक्ष्य से विचलित रहना, पुण्यमय संयोगों का सदुपयोग नहीं करना तथा भौतिक पदार्थों के उपार्जन में ही बहुमूल्य समय का दुरुपयोग करना कतई समुचित नहीं है।

साधक का यह चिन्तन चलना चाहिये कि मुझे आज जो अनुकूलताएँ मिली हैं, क्या मैं आत्म–विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि ये सब मुझे आगामी जन्म मे भी प्राप्त होंगी ? और यदि ऐसा नहीं है तो उनका इसी जीवन में

पूर्ण सदुपयोग कर ही लेना चाहिये क्योंकि मात्र भौतिक साधनों की उपलब्धि का मार्ग अज्ञान के अंधकार से आवृत्त होता है। अंधकार की ओर गति करना मेरा लक्ष्य नहीं है। यदि मैं अंधकार में ही रहूँ तो ये इन्द्रियाँ भी काम भोगों की तरफ आकर्षित होती रहेगी। समस्त दृश्य, श्रव्य अथवा अस्वाद्य पदार्थ मुझे अपने आदर्श लक्ष्य से विचलित करने की ही क्रिया करते रहते हैं। इसलिए मुझे इन सबसे ऊपर उठकर अपने आत्म–साक्षात्कार की ओर इस गति से बढ़ना चाहिये कि जहाँ अंधकार ही एक रेखा तक न रहे–चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश हो। इस प्रकाश में आत्म–ज्ञान का, अनन्त सूर्यो से अधिक तेज होते हुए भी परम शान्ति का आलोक व्याप्त होता है। लोगस्स के पाठ में 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा' के अंश से ऐसे ही प्रकाश का उल्लेख किया गया है। अतः मेरा आदर्श भौतिक पदार्थो का अनुबंधित प्रकाशाभास नहीं, अपितु अपनी ही आत्मा से उद्घाटित होने वाला अपूर्व प्रकाश है। यह प्रकाश है सत्, चित् एवं आनन्दमय। यह परमोच्च आदर्श मुझे मेरी साधना में प्रतिपल अपने सामने रखना है। यही सर्वोत्तम आदर्श है।

भविष्य के निर्धारण का चरण

यह सर्वोत्तम आदर्श ही साधनारत आत्मा का प्रकाश स्तंभ होता है। आदर्श के निर्धारण एवं उसी प्रकार लक्ष्य के संस्मरण द्वारा आत्मलक्षी अन्तरावलोकन करने के बाद जब तक साधक पुनः अपने व्यावहारिक जीवन में लौटता है तब उसका तीसरा और अन्तिम चरण आरंभ होता है। यह अन्तिम चरण होता है अपने भविष्य के सम्यक् रीति से निर्धारण का।

साधक की अन्तर्यात्रा का आरंभ बाहर से भीतर में प्रवेश करने के रूप में होता है यानी वह अपने व्यावहारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करता है, देह से चेतना की तरफ [illegible] होता है। [illegible] यह क्रम पहले सामयिक ही रहता है क्योंकि सा[illegible] [illegible]ठने के बाद वह फिर से अपने व्याव[illegible] [illegible] का यह प्रत्यावर्तन भी उसे अ[illegible] [illegible]ये। आध्यात्मिक जीवन की [illegible] [illegible]वन में भी होनी चाहिये। [illegible] भावनात्मक प्रत्यावर्तन होत[illegible] की अपेक्षा रहेगी। तब यह प्र[illegible] यों कहें कि दोनों जीवन [illegible] जीवन में भी आदर्श एवं लक्ष्[illegible]

भविष्य के निर्धारण के प्रति तब साधक का सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित होने लगेगा। तब उसकी संकल्प शक्ति भी बलवती होने लगेगी। जब वह व्यावहारिक जीवन में लौटेगा, तब पहले की तरह विषम परिस्थितियों के सामने झुकेगा या गिरेगा नहीं। उनसे सम्हल कर चलेगा, अपितु उन्हें सुधारने का सत्प्रयास भी करेगा। उसकी इस सजग वृत्ति से उसके व्यावहारिक जीवन में भी लोकोपकार की भावना पैदा होगी। वह सोचेगा कि जिस लक्ष्य एवं आदर्श को मैं उत्थानकारी मानता हूँ और जिस दिशा में मैं गति कर रहा हूँ, क्यों नही प्रत्येक मानव भी उस लक्ष्य और आदर्श को उत्थानकारी माने और क्यों नहीं, प्रत्येक मानव उसी दिशा में गति करे ? यह उसकी लोकोपकार की भावना होगी। इस दृष्टि से वह अपने आध्यात्मिक जीवन में अपनी आत्मिक उच्चता का पुरुषार्थ करेगा तो उसका वही पुरुषार्थ उसके व्यावहारिक जीवन मे अपनी आत्मिक उच्चता का पुरुषार्थ करेगा तो उसका वही पुरुषार्थ उसके व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी चरण बन जायेगा। समुच्चय रूप से इस परिप्रेक्ष्य में तब एक साधक अपने भविष्य का निर्धारण समतापूर्वक करना चाहेगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से साधक अपने भविष्य का निर्धारण इस रूप में करना चाहेगा कि उसकी साधना विस्तृत और व्यापक बने। इसका अर्थ है कि उसकी साधना अव्यक्त रूप से उसके व्यावहारिक जीवन में भी स्थान पावे और फैले। आध्यात्मिक जीवन से पुनः अपने व्यावहारिक जीवन में लौटते समय उसको अपने क्रियाकलापों में सबसे पहले प्रबलतम संकल्प के साथ–साथ सामयिक निश्चिंतता एवं समय की नियमितता पर विशेष ध्यान देना होगा। क्योंकि उसी आधार पर वह अपने चौबीसों घंटों का कार्यक्रम निश्चित कर पायेगा। आगे के कार्यक्रम का निर्धारण उसे साधना से उठते ही कर लेना चाहिये जो पुनः साधना में अवस्थित होने तक का हो। इस कार्यक्रम को इस प्रकार निश्चित करना चाहिये कि उसमें प्रत्येक मिनिट का हिसाब हो। एक भी मिनिट न आलस्य मे खोया जाय और न एक भी मिनिट का दुरुपयोग किया जाय। इससे आगे बढ़कर यह निश्चय किया जाय कि अधिकाधिक समय स्व–पर लोक–कल्याण में नियोजित हो। ज्यों–ज्यों साधना का क्रम सघन होता जाय, त्यो–त्यों स्व–पर कल्याण की निष्ठा भी प्रबल बनती जाय। साधक के जीवन मे तब वह स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जहां उसके दोनों प्रकार के जीवनो मे गहरा सामंजस्य पैदा हो जाय। उसी स्थिति मे दोनो जीवन अपने वास्तविक अर्थ मे एक दूसरे के सम्पूरक बन सकेंगे। फिर दैहिक चिन्ताओं से निवृत्ति भी की जा सकेगी तो निर्वाह हेतु

पूर्ण सदुपयोग कर ही लेना चाहिये क्योंकि मात्र भौतिक साधनों की उपलब्धि का मार्ग अज्ञान के अंधकार से आवृत्त होता है। अंधकार की ओर गति करना मेरा लक्ष्य नहीं है। यदि मैं अंधकार में ही रहूँ तो ये इन्द्रियाँ भी काम भोगो की तरफ आकर्षित होती रहेगी। समस्त दृश्य, श्रव्य अथवा अस्वाद्य पदार्थ मुझे अपने आदर्श लक्ष्य से विचलित करने की ही क्रिया करते रहते हैं। इसलिए मुझे इन सबसे ऊपर उठकर अपने आत्म–साक्षात्कार की ओर इस गति से बढ़ना चाहिये कि जहॉ अंधकार ही एक रेखा तक न रहे–चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश हो। इस प्रकाश में आत्म–ज्ञान का, अनन्त सूर्यो से अधिक तेज होते हुए भी परम शान्ति का आलोक व्याप्त होता है। लोगस्स के पाठ में 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा' के अंश से ऐसे ही प्रकाश का उल्लेख किया गया है। अतः मेरा आदर्श भौतिक पदार्थो का अनुबंधित प्रकाशाभास नहीं, अपितु अपनी ही आत्मा से उद्घाटित होने वाला अपूर्व प्रकाश है। यह प्रकाश है सत्, चित् एवं आनन्दमय। यह परमोच्च आदर्श मुझे मेरी साधना में प्रतिपल अपने सामने रखना है। यही सर्वोत्तम आदर्श है।

भविष्य के निर्धारण का चरण

यह सर्वोत्तम आदर्श ही साधनारत आत्मा का प्रकाश स्तंभ होता है। आदर्श के निर्धारण एवं उसी प्रकार लक्ष्य के संस्मरण द्वारा आत्मलक्षी अन्तरावलोकन करने के बाद जब तक साधक पुनः अपने व्यावहारिक जीवन में लौटता है तब उसका तीसरा और अन्तिम चरण आरंभ होता है। यह अन्तिम चरण होता है अपने भविष्य के सम्यक् रीति से निर्धारण का।

साधक की अन्तर्यात्रा का आरंभ बाहर से भीतर में प्रवेश करने के रूप में होता है यानी वह अपने व्यावहारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करता है, देह से चेतना की तरफ उन्मुख होता है। किन्तु यह क्रम पहले सामयिक ही रहता है क्योंकि साधना में निश्चित अवधि तक बैठने के बाद वह फिर से अपने व्यावहारिक जीवन में चला जाता है। किन्तु उस का यह प्रत्यावर्तन भी उसे अपने लक्ष्य एवं आदर्श से विस्मृत नहीं बनाना चाहिये। आध्यात्मिक जीवन की ही यथोचित सम्यक् पूर्ति उसके व्यावहारिक जीवन में भी होनी चाहिये। फिर बार–बार जो एक जीवन से दूसरे जीवन में भावनात्मक प्रत्यावर्तन होता रहेगा, उसमें भावनात्मक परिवर्तन एवं उच्चतरता की अपेक्षा रहेगी। तब यह प्रत्यावर्तन एक दूसरे का सम्पूरक बन जायेगा बल्कि यों कहें कि दोनों जीवन आध्यात्मिकता से ओतप्रोत होने लगेंगे। व्यावहारिक जीवन में भी आदर्श एवं लक्ष्य के अनुकूल आचरण का विस्तार हो जायेगा।

भविष्य के निर्धारण के प्रति तब साधक का सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित होने लगेगा। तब उसकी संकल्प शक्ति भी बलवती होने लगेगी। जब वह व्यावहारिक जीवन में लौटेगा, तब पहले की तरह विषम परिस्थितियों के सामने झुकेगा या गिरेगा नहीं। उनसे सम्हल कर चलेगा, अपितु उन्हें सुधारने का सत्प्रयास भी करेगा। उसकी इस सजग वृत्ति से उसके व्यावहारिक जीवन में भी लोकोपकार की भावना पैदा होगी। वह सोचेगा कि जिस लक्ष्य एवं आदर्श को मैं उत्थानकारी मानता हूँ और जिस दिशा में मैं गति कर रहा हूँ, क्यों नहीं प्रत्येक मानव भी उस लक्ष्य और आदर्श को उत्थानकारी माने और क्यों नहीं, प्रत्येक मानव उसी दिशा में गति करे ? यह उसकी लोकोपकार की भावना होगी। इस दृष्टि से वह अपने आध्यात्मिक जीवन में अपनी आत्मिक उच्चता का पुरुषार्थ करेगा तो उसका वही पुरुषार्थ उसके व्यावहारिक जीवन मे अपनी आत्मिक उच्चता का पुरुषार्थ करेगा तो उसका वही पुरुषार्थ उसके व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी चरण बन जायेगा। समुच्चय रूप से इस परिप्रेक्ष्य में तब एक साधक अपने भविष्य का निर्धारण समतापूर्वक करना चाहेगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से साधक अपने भविष्य का निर्धारण इस रूप में करना चाहेगा कि उसकी साधना विस्तृत और व्यापक बने। इसका अर्थ है कि उसकी साधना अव्यक्त रूप से उसके व्यावहारिक जीवन में भी स्थान पावे और फैले। आध्यात्मिक जीवन से पुनः अपने व्यावहारिक जीवन में लौटते समय उसको अपने क्रियाकलापों में सबसे पहले प्रबलतम संकल्प के साथ-साथ सामयिक निश्चिंतता एवं समय की नियमितता पर विशेष ध्यान देना होगा। क्योंकि उसी आधार पर वह अपने चौबीसों घंटों का कार्यक्रम निश्चित कर पायेगा। आगे के कार्यक्रम का निर्धारण उसे साधना से उठते ही कर लेना चाहिये जो पुनः साधना में अवस्थित होने तक का हो। इस कार्यक्रम को इस प्रकार निश्चित करना चाहिये कि उसमें प्रत्येक मिनिट का हिसाब हो। एक भी मिनिट न आलस्य में खोया जाय और न एक भी मिनिट का दुरुपयोग किया जाय। इससे आगे बढ़कर यह निश्चय किया जाय कि अधिकाधिक समय स्व-पर लोक-कल्याण में नियोजित हो। ज्यों-ज्यों साधना का क्रम सघन होता जाय, त्यों-त्यों स्व-पर कल्याण की निष्ठा भी प्रबल बनती जाय। साधक के जीवन में तब वह स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जहाँ उसके दोनों प्रकार के जीवनों में गहरा सामंजस्य पैदा हो जाय। उसी स्थिति मे दोनों जीवन अपने वास्तविक अर्थ में एक दूसरे के सम्पूरक बन सकेंगे। फिर दैहिक चिन्ताओं से निवृत्ति भी की जा सकेगी तो निर्वाह हेतु

व्यवसाय का संचालन भी हो सकेगा, तब भी भावनात्मक लक्ष्य सुस्थिर बना रहेगा और प्रतिपल आत्म चिन्तन की वृत्ति ही प्रबल एवं मुखर बनती जायेगी।

फिर साधक को अपने अगले चौबीस घंटों का पक्का कार्यक्रम भी बनाना चाहिये। साधना के समय पिछले चौबीस घंटों का आलोचनात्मक लेखा-जोखा भी लेना चाहिये। उदाहरणार्थ जब साधक अपनी साधना से उठे तो पूरे चौबीस घंटों का अग्रिम कार्यक्रम निश्चित करे कि इतने बजकर इतने मिनिट पर वह अपनी व्यावहारिक चिन्ताओं से निवृत्ति पा लेगा व फिर इतने बजकर इतने मिनिट तक अमुक कार्य करेगा। सारी दिनचर्या इस रूप में सुनिश्चित हो जानी चाहिये। उसे निश्चय करके ही विराम नहीं ले लेना चाहिये बल्कि सशक्त मानस के साथ उस कार्यक्रम का उसे उसी रीति से अनुसरण भी करना चाहिये। उसमें प्रमादवश या अकारण किसी प्रकार का अन्तर नहीं आना चाहिये।

सहजता जीवन का अंग बने

एक साधक के लिए इस रूप में समय निर्धारण एवं कठोरतापूर्वक उसके पालन के साथ साधना की दृष्टि से यह आवश्यक होगा कि वह जिस किसी कार्य मे संलग्न होता है, उसमें उसकी समस्त वृत्तियाँ समर्पित भाव से प्रवर्तित होनी चाहिये। उसका सम्पूर्ण ज्ञान, विवेक एवं उपयोग उस कार्य की सम्पूर्ति में लग जाना चाहिये। समझिये कि एक साधक शास्त्र अथवा उपयोगी ग्रंथ का वाचन कर रहा है तो उसका समग्र ध्यान उस वाचन में केन्द्रित हो जाय-इस तरह कि जैसे वह उस आनन्द में निमग्न हो गया हो। उसे ऐसी अनुभूति हो कि उसका चित्त उस कार्य में पूरी तरह से रस ले रहा है। तल्लीनता उसका आत्मगुण बन जाना चाहिए। ऐसी तल्लीनता आध्यात्मिक कार्यो में तो हो ही किन्तु उस तल्लीनता का प्रसार उसके व्यावहारिक जीवन में भी हो जाना चाहिये। जैसे वह जब भोजन कर रहा हो तो जो भी सामने है मुदित मन उसको प्रेमपूर्वक खावे और उसी तल्लीनता से खावे।

तल्लीनता का यह आत्म-गुण परिपुष्ट तब बन सकेगा, जब एक कार्य करते हुए दूसरे कार्य का स्मरण तक न किया जाय। जब साधक ग्रन्थ का वाचन कर रहा हो तब अन्य साधना के बारे में भी नहीं सोचे। किसी सांसारिक कार्य के लिए सोचने का सवाल ही नहीं है। इसी प्रकार जब वह भोजन कर रहा हो तो स्नान करने के बारे में नहीं सोचे। प्रत्येक क्रिया के प्रति इस तल्लीन भाव से उस क्रिया की सार्थकता का सीधा अनुभव होगा।

इसी तल्लीनता को एकावधानता का नाम दिया गया है और यही जीवन की सहजता है अथवा 'सहज योग' की साधना है। जो कार्य जिस समय कर रहे हैं, उसी में अपनी चित्तवृत्तियों का सारा ध्यान केन्द्रित हो जाय और अन्य कोई बात स्मृति तक में नहीं आवे, तब एकाग्रता का सुन्दर अभ्यास बनेगा। एकाग्रता से अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ जब एक ही कार्य में निरत बनेगी–समर्पित हो जायेगी तब उस कार्य की सफलता भी असंदिग्ध हो जायेगी। धीरे–धीरे यह अभ्यास इतना संपुष्ट बन जायेगा कि पूर्व निश्चित कार्यक्रमानुसार प्रत्येक कार्य सहजतापूर्वक सम्पन्न होने लगेगा। यों कहें कि सहजता जीवन का अंग बन जायगी।

सहज योग की साधना की यही उत्साहकारी भूमिका भी बन जायेगी। यह समीक्षण ध्यान साधना का तीसरा चरण अथवा अन्तिम आयाम होगा कि हाथ में लिये हुए कार्य के प्रति अथवा यदि कोई चिन्तन कर रहे हैं तो उस चिन्तन के प्रति समग्र समर्पण का संकल्प बन जाय। संकल्प की दृढ़ता यहाँ तक बन जाय कि धारणा ले लेने के बाद भोजन के समय एक–एक कृत–क्रिया पर सजगता की आलोचना हो सके। रोटी का टुकड़ा तोड़ते समय और कवल मुंह में रखते समय अथवा उसको चबाते समय साधक का उपयोग जागृत रहे। उसके मन में यह विचार चलता रहे कि मैं अपनी प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करूंगा तथा उससे उत्पन्न होने वाले प्रत्येक प्रभाव की सम्यक् समीक्षा करूंगा। उसका एक भी कवल बिना इस प्रकार की सजगता के मुँह में नहीं जावे और न मुँह से गले में उतरे। यह सजगता भोजन के समय में ही रहे ऐसी बात नहीं है। साधक की प्रत्येक क्रिया में उसकी ऐसी सजगता वर्तमान रहनी चाहिये।

भोजन के समय में अथवा अन्य किसी कार्य के समय में साधी जाने वाली ऐसी सजग साधना से 'सहज योग' की साधना तो होगी ही किन्तु साथ–साथ में ऐसी साधना का सुप्रभाव शरीर के विविध अंगोपांगों पर भी पडेगा। जैसे भोजन के समय की ऐसी साधना उसकी पाचन क्रिया को सरल व सहज बना देगी। सतत जागृति के कारण खाद्य पदार्थो का मुँह में चर्वण अच्छी तरह से होगा तो उसमें पाचक रसों का सम्मिश्रण भी समुचित रीति से संभव बनेगा। भोज्य पदार्थ जितना सात्विक होगा, उतना ही वह सुपाच्य भी होगा। प्राणशक्ति के संवर्धन के लिए पाचन क्रिया का सुव्यवस्थित होना भी आवश्यक है। उसी प्रकार प्राण शक्ति का संवर्धन साधना की सफलता के लिये भी आवश्यक होता है। अतः भोजन के समय ऐसी तल्लीनता और

जागृति रखी जायेगी तो उससे शारीरिक स्थिति भी व्यवस्थित रहेगी और साधना का सम्बल भी अभिवृद्ध बनेगा। भोजन ग्रहण करने के समान ही दिनचर्या की प्रत्येक क्रिया में साधक को ऐसी ही तल्लीनता एवं जागृति साधनी चाहिये। सतत सावधानता साधना की मूल वृत्ति हो जानी चाहिये।

साधना के इस त्रिचरणात्मक समीक्षण क्रम में पिछले चौवीस घंटों की क्रियाओं का संस्मरण एवं आगामी चौवीस घंटों की क्रियाओं का निर्धारण नियमित बन जाना चाहिये। और इन दोनों के बीच में जो आध्यात्मिक साधना का क्रम चलेगा, उसमें आदर्श लक्ष्य का एकावधान अनुचिन्तन भी नियमित रूप से चलना चाहिये। जहाँ–जहाँ मनो–वृत्तियों का स्खलन होता हो, वहाँ–वहाँ साधक को अपनी सावधानी का सम्बल बढ़ाते रहना चाहिये। साधक को यह ध्यान रखना चाहिये कि साधना–काल में मन उसका अनुचर बनकर रहे तथा उसके प्रत्येक निर्देश की यथावत् अनुपालना करे। इस दृष्टि से मन की एकाग्रता का संकल्प प्रतिक्षण स्मृति–पटल पर आता रहना चाहिये ताकि उसके तनिक से इधर–उधर होते ही उसे पुनः अपने स्थान पर आ जाने के लिये बाध्य किया जा सके। क्योंकि मन को अनुचरवत् अनुशासित किये बिना संकल्पों का सशक्त बन पाना संभव नहीं होता है। और जब तक संकल्प सशक्त न बन सके तब तक लक्ष्य सिद्धि असंभव बनी रहती है। अतः लक्ष्य के प्रति पल–पल जागृति के साथ मनोवृत्तियों का नियमित समीक्षीकरण साधना का अनिवार्य पक्ष माना जायेगा। समीक्षण में जागृति की नितांत आवश्यकता होती है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारी आत्मा का लक्ष्य सिद्ध–स्वरूप का साक्षात्कार करना है। परम चैतन्य सत्ता की अभिव्यक्ति तथा अविचल शान्ति पूर्ण विश्रान्ति ये ही अपनी साधना के उच्चतम लक्ष्य हैं जिनके लिये त्रि–आयामी समीक्षण ध्यान पद्धति का निरूपण किया गया है। यह पद्धति मनःस्थिति को सुदृढ़ बनाकर एकावधानी बनाने की भूमिका मात्र है जबकि समीक्षण ध्यान की उन्नति असीम होती है। एकाग्र तल्लीनता अथवा एकावधानता स्वयं सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य की पृष्ठभूमि मात्र है। यहाँ पर यह भी याद रखना चाहिये कि पूर्व भूमिका स्वरूप समीक्षण ध्यान के ये तीनों चरण प्रतिदिन की प्रखरता के साथ सूक्ष्मता में अवगाहन करने वाले बनते जावें। प्रतिदिन घटित होने वाली बातों पर जब प्रतिदिन चिन्तन चलता रहेगा, तब वह स्वयं तो साधना नहीं होगी किन्तु साधना को उससे पुष्टि अवश्य मिलेगी। चिन्तन, साधना रूप तब बनेगा जब वह विषय

की सूक्ष्मता में प्रवेश करके सूक्ष्मतम तलस्पर्शिता तक पहुँचेगा। गूढ़ता जितनी बढ़ती जायेगी, चिन्तन उतना प्रभावित बनता जायेगा। 'जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ' की उक्ति को सामने रखकर अधिकाधिक गंभीरता अर्जित की जानी चाहिये।

किन्तु गूढ़ता और गंभीरता अपने चिन्तन में अभिवृद्ध होती रहे इसके लिये साधक को क्या करना चाहिये ? चिन्तन का क्रम तब तक ही चलाया जाना चाहिये जब तक मन–मस्तिष्क में किसी प्रकार का तनाव पैदा न हो। ज्यों ही यह अनुभव हो कि चिन्तन के प्रति उत्साह और उमंग में न्यूनता आ गई है त्यों ही चिन्तन के विषय को बदल लेना चाहिये। साधक के लिए इस प्रकार की सावधानी तीनों में से प्रत्येक चरण में आवश्यक है। जरा–सा भी तनाव आ जाय तो थोडी देर के लिए विश्रान्ति ले लेनी चाहिये ताकि चिन्तन का पुनः आरम्भ मस्तिष्क की ताजगी के साथ हो। दूसरे चरण में भी आदर्श के अनुस्मरण रूप सावधानी आवश्यक होती है। अनुस्मरण करते–करते साधक को तदनुरूप की अनुभूति होनी चाहिये। उसके मन में ऐसा सुदृढ़ संकल्प उठना चाहिये कि मेरी अन्तश्चेतना में अनन्त सूर्यो की अपेक्षा भी अधिक देदीप्यमान प्रकाश विद्यमान है। आत्म–स्वरूप रूपी आकाश में वह प्रकाश चमचमा रहा है। मेरे आत्मिक धरातल पर अनेक शक्तिस्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ जैसे कि मेरे भीतर अपार शक्तियों की अभिव्यक्तियां हो रही हो।

यह निश्चित है कि साधना के इस स्तर तक पहुँचने में पर्याप्त समय की अपेक्षा रहेगी। इसका कारण भी स्पष्ट है। दीर्घकाल से विश्रृंखल, विषम एवं उदंड बनी आत्मा की वृत्तियों को एकदम जीत लेना कठिन है। उसी प्रकार सर्वोच्च सिद्धि के लिए प्रयत्न भी सर्वोत्कृष्ट होने ही चाहिये। अपने जीवन–व्यवहार में देखा जाता है कि बीज बोने के साथ ही फल की प्राप्ति नहीं हो जाती है। किन्हीं फलो को प्राप्त करने के लिए कई महीनों तक और आम जैसे फल को प्राप्त करने के लिये कई वर्षो तक प्रतीक्षा करनी पडती है। जब भौतिक फलो की प्राप्ति के लिये भी सन्तोष के साथ प्रतीक्षा कर ली जाती है और उसकी प्राप्ति मे अविश्वास भी नहीं रखा जाता है, फिर आध्यात्मिक साधना के फल की कामना करते हुए धैर्य क्यो छोड देना चाहिये ? निश्चित विश्वास तथा अगाध धैर्य के साथ ही साधना की जायेगी तो साध्य का साक्षात्कार भी निश्चित रूप से हो जायेगा। यह सही है कि आध्यात्मिक विषय के अनुसार इन्द्रियों और उसी प्रकार मन भी अपना नहीं,

'पर' होता है–सभी दृश्य पदार्थों से परे होकर ही अदृश्य सत्ता–आत्मज्योति पर ध्यान को केन्द्रित करना होता है। यह केन्द्रीकरण की साधना एक जन्म ही नहीं बल्कि कई बार अपने सम्पूर्ण विकास में कई जन्मों का समय ले लेती है। महान् योगी अथवा धुरंधर साधक भी इस ध्यान साधना में सफल बन ही जाय ऐसा नहीं होता। इसलिए एक साधक को यह बात याद रखनी चाहिये कि उसे एकनिष्ठा और सुदृढ़ संकल्प की प्रतिज्ञा लेकर अविचल विश्वासपूर्वक प्रगति के पथ पर आगे से आगे बढ़ते ही जाना है। क्योंकि कभी–कभी साधना में होने वाली थकान या सुस्ती उसके व्यवस्थित क्रम को अस्त–व्यस्त कर सकती है और ऐसे क्रमभंग से साधक का विश्वास डगमगा सकता है या साधना के प्रति अरुचि जाग सकती है। अतः आवश्यक है कि दृढ़ निश्चय एवं अगाध धैर्य के साथ साधक को विधिपूर्वक साधना के प्रति समर्पित होना चाहिये और किसी भी प्रकार की अरुचि, थकान या सुस्ती को दूर रखनी चाहिये।

शक्ति केन्द्र के प्रति सावधानी

इस साधना क्रम में सर्वाधिक जागृति की आवश्यकता तब प्रतीत होती है जब हमारे दिल के कोनों में जम कर बैठी हुई दूषित वृत्तियाँ भारी तूफान मचाती हैं। साधना के समय जब सोई हुई शक्तियाँ जागती हैं, तब चारों तरफ पवित्रता का एक अनूठा वायुमंडल तैयार होता है। उस वायुमंडल से उन दूषित वृत्तियों का जमा हुआ आसन डोलने लगता है। अपने जमे हुए आसन को कौन आसानी से छोड़ना चाहता है ? परिणामस्वरूप जागती हुई आत्म–शक्तियों तथा जमी हुई दूषित वृत्तियों के बीच में एक प्रकार का संघर्ष शुरू हो जाता है। यदि साधना का संकल्प दृढ़तर हुआ तो असत्वृत्तियों को अपना आसन छोड़ देना पड़ेगा और साधक को विजय–श्री मिल जायेगी। यदि ऐसी परिपक्क मनोदशा नहीं बन पाई तो अनादिकालीन दूषित विचार उस साधक की साधना को छिन्नभिन्न कर डालेंगे। उस दशा में हताशा और निराशा में डूबकर साधक लक्ष्य–भ्रष्ट हो जायेगा। अतः इस प्रकार की सावधानी अत्यन्त आवश्यक है कि जब विकारपूर्ण दूषित वृत्तियाँ अपना असर दिखाने लगें तभी तुरन्त आत्मशक्ति के संबल को जागृत बना लेना चाहिये ताकि अपनी उच्छृंखलता के प्रारंभ में ही उन वृत्तियों को परास्त किया जा सके। इतना ही नहीं, उन वृत्तियों के उभरने के कारणों को ही अवरूद्ध बना देना चाहिए। इन वृत्तियों के पहले और हल्के आक्रमण के साथ इस तरह का चिन्तन शुरू कर दिया जाना चाहिये कि ये वृत्तियाँ मेरी स्वाभाविक नहीं, 'पर'

से प्रभावित होने से पराई हैं–आई हुई हैं, जिन्होंने मेरी आत्मशक्ति पर अपना डेरा डाल दिया है और मेरी चेतना को व्यामोहित करके उसकी प्रभा हर रखी है।

इन दूषित वृत्तियों का आगमन और उनका मेरे आत्मस्वरूप पर आक्रमण तथा निवास होने का एकमात्र कारण यह है कि मैं असावधान रह गया और ये वृत्तियाँ अंकुरित और फलित होती गयी ऐसा चिन्तन करते हुए एक साधक को उभरती हुई अपनी दूषित वृत्तियों का तत्काल उपशम कर देना चाहिये ताकि उनके कमजोर पड जाने पर उनका सरलतापूर्वक क्षय किया जा सके। वह निश्चय करे कि अब ये वृत्तियाँ उसकी आत्मशक्तियों को दबाकर नहीं रख सकेंगी। अब यह इन्द्रिय जन्य क्षणिक आनन्द सत्‌चित्‌ रूप शाश्वत आनन्द को आवृत्त नहीं कर सकेगा। क्योंकि यह दोष उन वृत्तियों का नहीं मेरा स्वयं का है। मैं असावधान नहीं रहता तो भला ये वृत्तियाँ कितनी ही दूषित क्यों न होती, मेरा क्या बिगाड सकती थी ? असावधान मालिक के घर मे कोई चोर घुस जाय और सारी व्यवस्था को अस्तव्यस्त करके वहीं बस जाय तो इसमे चोर को दोष देने से कोई लाभ नहीं होगा। दोष सारा घर के मालिक का है जो असावधान रहा और घर के दरवाजों में घुसने से चोरों को पहले ही रोक नही सका। इसी प्रकार की असावधानी के कारण दूषित वृत्तियाँ कभी चोर की तरह तो कभी डाकू की तरह आत्मस्वरूप के पावन मन्दिर मे घुस आती हैं और अपनी विद्रूपता फैला देती हैं। साधक के जागृति के क्षणो मे इसी कारण ये विद्रूप वृत्तियां उसके जागरण को आच्छादित बनाती रहती हैं। इसलिए साधक को मूल पर ही प्रहार करना होगा और इन वृत्तियो की सक्रियता को ही मन्द बनाते हुए उन्हें पाप–पथ से हटानी होगी।

साधक अपनी इन वृत्तियो का समीक्षण करते हुए सोचे कि यह मेरी विराट् भूल थी जो मैंने इन क्षुद्र वृत्तियो मे आनन्द की खोज की और मैं यह खोज करता ही रहा। तभी तो ये वृत्तियाँ मेरे अन्तःकरण में जम ही गई। किन्तु जब से मेरी दृष्टि आत्म–शक्ति की तरफ केन्द्रित बनी है तब से मैं इन वृत्तियों की क्षुद्रता एव कलुषितता को भलीभांति समझ गया हूँ। मुझे इस सत्य का भी ज्ञान हो गया है कि इन वृत्तियो से मिला मेरा आनन्द क्षणिक क्यों है ? और क्यो नही मैं अब तक तत्त्वदृष्टाओ द्वारा वर्णित शाश्वत आनन्द को उपलब्ध कर पाया ? किन्तु अब मेरी आत्म–ज्योति प्रज्वलित हो गई है तथा मेरी आन्तरिक शक्तियो क्रियाशील बन गई हैं, अत. मैं फिर से उन दूषित एवं विकृत वृत्तियो के दुश्चक्र मे नही फसूंगा।

साधक जब सद्गुरु का मार्गदर्शन ग्रहण करता है तो उसके ज्ञान–चक्षु खुल जाते हैं और वह समझ जाता है कि स्वयं ही अपने आपका स्रष्टा है। साधना के एक स्तर तक पहुँच जाने के बाद उसे अनुभूति होने लगती है कि उसकी अन्तरात्मा में अनन्त शक्ति का अविरल स्रोत प्रवाहित हो रहा है और अनन्त ज्योतिपुंज देदीप्यमान हो रहे हैं। उसे अपनी चेतना का भी अनुभव होता है कि वह 'स्व' के अनुशासन में संचालित होने पर कितनी स्वतंत्र, कितनी निर्विकारी और किस प्रकार लोकालोक को सम्यक् रीति से अवलोकन करने वाली है ? वह चेतना मात्र ज्ञान और सत्ता को धारण करने वाली है जिस के माध्यम से ही स्वरूप–बोध, स्वरूप–परिचय एवं स्वरूप–दर्शन संभव होता है।

इस चेतना को सावधान एवं प्रवुद्ध बनाने वाली होती है वीतराग देवों की वाणी, रागद्वेष के कुप्रभाव से मुक्त सर्वप्राणी हितकारिणी उपदेश–धारा। साधक इसी वीतराग वाणी को जब परिपूर्ण सत्य के रूप में स्वीकृत करता हुआ अपनी साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता जाता है, तब उसके सामने उस वाणी का मक्खन रूप सार समीक्षण ध्यान अतीव प्रभावोत्पादक बन जाता है। साधक तब समीक्षण ध्यान के सविशेष प्रयोगों द्वारा अपने अनंत सुख स्वरूप चेतना बोध के प्रति अधिक सक्रिय हो जाता है। समीक्षण ध्यान के प्रभाव स्वरूप जो दिव्य आत्म–जागृति उसको प्राप्त होती है, वह उसके लिये स्वयं को धन्य मानने लग जाता है। उसका यह आत्म–बोध वर्तमान में तो श्रद्धा रूप ही रहता है किन्तु वही श्रद्धा प्रगाढ रूप धारण करके सम्यक् बनती हुई सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचरण को साधक के जीवन में जागृत एवं कार्यरत बनाती है। श्रद्धा से उसका आत्मविश्वास बलिष्ठ बन जाता है और मन में यह धारणा निश्चित हो जाती है कि वह अब अपनी विकृत वृत्तियों को समाप्त करके ही विराम लेगा। वह यह भी निश्चय करेगा कि तब भविष्य में ये विकृत वृत्तियां पुन. मेरे भीतर में कोई स्थान न पा सके। इस प्रकार स्वभाव और विभाव के संघर्ष में शुद्ध आत्म शक्ति की विजय होगी तथा आत्म शक्ति का केन्द्र अधिक तेजस्वी बनेगा।

किन्तु यह उपलब्धि तभी प्राप्त हो सकेगी जब इस आत्मा की बहुमुखी सावधानी बनी रहेगी। साधक को यह अभ्यास बना लेना चाहिये कि वह एक पल के लिए भी असावधान न रहे। सावधानी उसका सहज गुण बन जाना चाहिये।

अहंभाव का विसर्जन

पूर्ण सावधानी के साथ जब साधना के क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है, तभी साधना के महत्त्व को महसूस करने का अवसर उपस्थित होता है। यों साधनाएँ कई प्रकार की होती हैं तथा उसके आयाम भी कई प्रकार के होते हैं। यह साधक की परीक्षा बुद्धि का परिणाम होता है कि वह सम्यक् साधना के माध्यम से कभी मन्द अथवा कभी तीव्र गति से अपने गंतव्य तक पहुँचता है। सभी प्रकार की साधनाओं में आत्मिक साधना का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। इससे बढ़कर अन्य कोई साधना इस विश्व में नहीं है। सच पूछें तो इससे बढ़कर अन्य कोई साधना कभी विश्व में थी नहीं और आगे भी कभी होगी नहीं। इस अद्वितीय साधना को अपनाकर जब साधक गतिशील होता है तो वह सम्पूर्ण परिधियों को पार करके उच्चतम स्वरूप का वरण करता है। यह उच्चतम स्वरूप ही भव्य आत्माओं के लिए अपना चरम और अन्तिम गंतव्य स्थान है।

इस उच्चतम स्वरूप को प्राप्त करने की दृष्टि से समीक्षण ध्यान के तीन आयाम ऊपर बताये गये हैं। इन्हीं आयामों में जिस साधक की गतिशीलता जितनी तीव्र बनती है, उतनी ही गूढ़ता से वह अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपनी वृत्तियों को सुव्यवस्थित बना लेता है। आत्म समीक्षण की इन बहुआयामी प्रवृत्तियों में कई विश्रामस्थल भी आते हैं। स्थूल परिधि के अन्दर प्रवेश करने में भी चित्तवृत्तियों के समक्ष ऐसे विश्राम के क्षण आते हैं जब साधक अपनी पिछली प्रगति का लेखाजोखा ले सकता है और अपने भविष्य के कार्यक्रम का सुविचारित निर्धारण कर सकता है। इस स्थूल परिधि के अन्तर्गत विचरण करने वाली चित्तवृत्तियाँ सामयिक स्वरूप को धारण करके मानस तंत्र को उद्वेलित करती जाती हैं। अपने मानस तंत्र की उस उथल–पुथल में कभी–कभी साधक इतना आकुल–व्याकुल हो जाता है कि उसे आगे का कोई मार्ग सूझ नहीं पड़ता है। उस समय में साधक अपनी मन की वृत्तियों को एकाग्र बनाने का प्रयत्न करता है तो उसको सफलता नहीं मिलती है। प्रयत्नों का बल अधिक होता है किन्तु सफलता बहुत कम। उस एकाग्रता के अभाव में कई बार साधक तनाव और थकावट का अनुभव करता है और घबराहट में यह सोच लेता है कि अब साधनामार्ग में आगे प्रगति करना संभव नहीं है। कई साधक इस स्तर पर निराश होकर अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करने के अपने प्रयत्न को ही त्याग देते हैं। इससे विपरीत कई साधकों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि अपनी साधना की प्रारंभिक अथवा

सामान्य स्थिति मे ही जैसे वे समाधिस्थ हो गये हो। क्योंकि वे शान्ति के चन्द क्षणों का रसास्वादन कर लेते हैं। उस सामान्य आभास के कारण उन्हें अहं का आच्छादन ढक लेता है। इस कारण वे कई प्रकार की भ्रान्तियों के शिकार बन जाते हैं। वे अपनी स्थूल परिधि को ही सूक्ष्म परिधि मान लेते हैं। इस प्रकार के भ्रम से ग्रस्त होकर वे साधक अपने मानस तंत्र का कुछ नियंत्रण करते हुए भी अपनी आगे की प्रगति को अवरूद्ध बना लेते हैं। क्योंकि स्थूल परिधि में अपेक्षाकृत सन्तोष और समय की वृद्धि को ही वे समाधि की वृद्धि मान लेते हैं जिसके कारण अदम्य उत्साह से परिपूर्ण उनकी आन्तरिक वृत्तियाँ गंतव्य स्थान तक पहुँच जाने के भ्रम में शिथिल हो जाती हैं। उस शिथिलता के साथ उनकी दुर्बलता भी फूट पडती है। परिणाम स्वरूप यत्किंचित् साधी हुई साधना की प्रगति भी समाप्त हो जाती है और गतिशीलता कुंठित बन जाती है। इसलिए साधकों को अपनी साधना के क्षेत्र मे प्रत्येक पल दृढ संकल्प के साथ निश्चित ध्येय की प्राप्ति हेतु सदैव उत्साहित बने रहना चाहिये।

साधक को चाहिये कि साधना के दौरान जब निराशा और दुर्बलता के ऐसे क्षण आवें तो उन्हे वह आत्म विकास की अपनी महायात्रा का एक पड़ाव मानकर कुछ विराम ले ले और आत्म चिन्तन को प्रदीप्त बनाकर अपनी तनावपूर्ण एव थकित मानसिकता को दूर हटा दे। यो समझे कि यह पड़ाव अपनी थकान मिटाने के लिए ही था। इस प्रकार ऐसे आने वाले प्रत्येक पड़ाव पर साधक अपनी दुर्बल होती हुई शक्तियो का पुनः संचय करे तथा परम उत्साह के साथ पुनः प्रस्थान कर दे। विफल वह साधक होता है जो ऐसे पड़ाव को आखिरी मंजिल मान लेता है। जिज्ञासु साधक तो विश्राम स्थल को यथोचित रीति से समझकर अपनी प्रगति–पिपासा को अधिक तीव्र बना लेता है तथा अधिक गरिमापूर्ण गति से आगे बढ चलता है। परन्तु स्थूल परिधि मे विचरण करते हुए साधक को अपने मानस–तंत्र की उलझनों को सुलझाये बिना कुछ मिलेगा नही। ये उलझने किन्ही बाह्य साधनो अथवा बाहर की क्रियाओ द्वारा सुलझाई नही जा सकेगी। इन उलझनों को तो साधक को भीतर मे ही समझनी होगी तथा अपनी साधना के बल से ही सुलझानी पड़ेगी। साधक आई हुई निराशाजनक इन उलझनो का सम्यक् रीति से अवलोकन करे और उन ग्रन्थियो को ध्यान मे ले जिन की वजह से उलझने सामने आई हुई है। ये ग्रन्थियाँ मुख्यत अपनी ही मनोवृत्तियो की ग्रन्थियो होती है जो एक या दूसरे कारण से ग्रथित हो जाती हैं। ग्रंथियो को

देखते–परखते समय एकावधानता आवश्यक है। इसमें मन भी एकाग्र हो तो शरीर भी स्थिर रहे और ध्यानावस्थित चिन्तन का क्रम चले। तब उन ग्रंथियों के कारण भी स्पष्ट हो जायेंगे तो उन का निदान भी उभर कर सामने आ जायगा।

ऐसा एकाग्र अवलोकन तभी सफल बन सकता है जब अहंभाव का विसर्जन कर दिया जाय। साधना का अहंभाव तो और भी घातक होता है। अहंभाव कई बार साधना की प्रगति के प्रति भ्रान्ति के कारण भी उत्पन्न होता है। कैसे भी हो, अहंभाव साधना की जड़ों पर ही कुठाराघात करता है। अतः इस एकाग्र अवलोकन के समय अहंभाव का लेश मात्र भी नहीं होना चाहिये। साधक विनम्रतापूर्वक ही अपने भीतर की दशा का सम्यक् अवलोकन करे। भीतर की गुत्थियों को सुलझाने के लिए संशोधित वृत्तियों को ही काम में लें।

समता एवं एकावधानतामय जो विवेक जागृत होगा, वही साधक को अपनी गुत्थियाँ सुलझाने में सहायता करेगा तो उसे पुनः आत्म–समीक्षण की प्रक्रिया में सुदृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित करेगा। समीक्षण ध्यान रूपी नेत्रों में जब प्रकाश भर उठेगा, तब मानस तंत्र में उपजी एक भी गुत्थी अनसुलझी नहीं रह सकेगी।

आत्म–समीक्षण को सफल बनाने वाली दो भुजाएँ होती हैं–एक एकाग्रता की तो दूसरी समता की। इन दोनों भुजाओं का जब साधक भव्य रीति से संयुक्तिकरण कर लेता है तब दूषित प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष करने में कोई दुर्बलता नहीं रहती है। एकाग्रता एवं समता के दिव्य आलोक में आन्तरिकता का यह विज्ञान बन जाता है कि साधक अपने समीक्षण ध्यान के बल पर अपनी अन्तर्वृत्तियों का अवलोकन करते हुए उन्हें सुव्यवस्थित बना ले तथा आत्म विकास की महायात्रा में सफल बनने की क्षमता अर्जित कर ले। दृढ़ संकल्प एवं पूर्ण श्रद्धा के साथ उसके पांव मजबूती से साधना पथ पर आगे बढ़ते जाते हैं। उसका यह गमन जितना व्यवस्थित होगा, उतनी ही कुशलता से वह स्थूल परिधि में से निकल कर सूक्ष्म परिधि में प्रवेश कर सकेगा। इस सूक्ष्म परिधि में उसकी गति की जितनी विशिष्टता होगी, उसी परिमाण में वहाँ की जटिलताओं में कमी आयेगी। कारण, जितनी विचित्र प्रकार की झंझटें, अड़चनें और रुकावटें स्थूल परिधि में विचरण करते हुए आती हैं, उतनी सूक्ष्म परिधि में नहीं आती हैं। जो साधक स्थूल परिधि को पार करके सूक्ष्म परिधि में आगे बढ़ जाता है, मानिये कि वह मोक्ष के राजमार्ग पर पहुँच जाता है।

मोक्ष के राजमार्ग की अनुभूतियाँ अपूर्व आनन्द से भरी हुई होती हैं। इस मार्ग पर आगे बढते हुए साधक ऐसी विचारणाओ मे विचरण करने लग जाता है जो पूरी तरह सुलझी हुई होती हैं। अन्तर्वृत्तियो के उस सरोवर मे तब ऐसे ऐसे भाव-कमल विकसित होते हैं जिन्हें देखकर अन्तरात्मा अनुरंजित हो उठती है। ये दृश्यावलियाँ बडी रंगबिरंगी होती हैं। इस सघनता में यदि साधक यकायक स्तब्ध हो जाता है और अपने समीक्षण ध्यान को सुव्यवस्थित नही रख पाता है तो उस दिव्य प्रकाश की चमचमाहट में वह किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाता है। जिस प्रकार जंगली जानवर भयंकर जंगल की झाड़ियों, पहाडियो, नदी-नालों तथा कांटों भरे पथरीले रास्तों को अंधेरी रात मे भी सामान्य प्रकार से पार कर लेते हैं किन्तु उनके सामने तेज रोशनी एकाएक फैल जाय तो वे चकरा जाते हैं और अपना रास्ता भूल जाते हैं। उसी प्रकार साधक यदि उस दिव्य प्रकाश में चक्कर खा जाय तो अपनी साधना से वह पतित हो सकता है। सूक्ष्म परिधि में समीक्षण ध्यान की भी उतनी ही सूक्ष्मता अपेक्षित रहती है।

कई बार तो कई साधक उपर्युक्त स्थिति को ही सिद्धि मान लेते हैं और अपनी उस स्थिति का बाहर प्रदर्शन करने लग जाते हैं। वैसे साधक राजमार्ग पर पहुँच जाने के बावजूद बाह्य प्रदर्शन में संलग्न हो जाने के कारण उस सूक्ष्म परिधि से छिटक कर स्थूल परिधि मे पतित हो जाते हैं। ऐसे साधक तब नाना भांति की समस्याओ मे उलझ कर पुन. वहाँ से आगे प्रस्थान नही कर पाते हैं। उन समस्याओ को सुलझाने की उनमें क्षमता रहते हुए भी वे अपने अहंभाव से इस प्रकार आवृत्त बन जाते हैं कि प्रगति करने की उनकी जिज्ञासा दब जाती है एवं उनके मन-मानस पर भ्रान्ति का कोहरा जम जाता है। वे यह समझ लेते हैं कि दुनिया मे एक उन्हीं की साधना सिद्ध हुई है, अब किसी दूसरे से कुछ भी ज्ञान लेने की उन्हे आवश्यकता नहीं। उनका अहंभाव उन्हे किसी के सामने झुकने नही देता, क्योंकि कोई शंका उत्पन्न होने पर भी वे उसका समाधान लेने मे अपने मानदंड की हानि समझने लग जाते है। वे सोचते हैं कि अपनी शंका का निवारण यदि किसी अन्य साधक से वे करवाने का यत्न करेंगे तो दूसरे साधक उन की पूर्णता मे सन्देह करने लग जायेंगे। ऐसी विडम्बना मे ग्रस्त होकर अहंभाव के कारण ये साधक अपनी सम्पादित प्रगति पर पानी फेर देते हैं।

साधक के मन मे समाई वह अहं वृत्ति उसकी दुर्बलता को न तो प्रकट होने देती है और न सुधरने का अवसर देती है। वह अहं वृत्ति बाहरी दुनिया

में यश लूटने के काम में साधक को बुरी तरह से लगा देती है और उसमें यह भ्रम भरा हुआ रखती है कि वह अपनी परिपूर्णता का स्वामी बन चुका है। ऐसी अहंवृत्ति के अधीन हो जाने वाला साधक अपने पवित्र साधना-क्षेत्र से स्खलित हो जाता है और उसने जिन आत्मशक्तियों की तब तक उपलब्धि कर ली थी, वे आत्मशक्तियाँ भी उससे छिन जाती है। अहंभाव से भर उठने के कारण साधक की साधना 'कातापींजा कपास' की तरह हो जाती है। इसलिये प्रत्येक बिंदु पर साधक को अपार धैर्य धारण करके रहना चाहिये। फिर से पतित हो सकने वाली सीमा तक तो साधक अपूर्व धीरज के साथ दृढ़तापूर्वक चले ही-यह आवश्यक है। मोक्ष के राजमार्ग पर चलते हुए उस सीमा तक उसके पाँव डगमगावे नहीं, इस हेतु उसे अपने समीक्षण ध्यान की दृष्टि को तेजस्विता से ओतप्रोत रखनी चाहिये। वह रंगबिरंगे दृश्यों को भी निरन्तर तत्परता के साथ देखे किन्तु उनके पीछे आशक्त न बने, आगे से आगे बढ़ते जाने का यत्न ही करता रहे। उसके इस प्रयत्न में यदि निरंतरता बनी रह जाय तो वह कभी न कभी अपने गंतव्य तक पहुँच जायगा-ऐसी सुनिश्चित आशा बंध जाती है।

इस सारे विश्लेषण का स्पष्ट आशय यह है कि साधक को अपनी साधना के किसी भी स्तर पर अहंभाव से मंडित नहीं होना चाहिये। अहंभाव के उठते ही वह उसको विसर्जित करता हुआ आगे बढ़े। साधक के लिए अपनी साधना की सूक्ष्म परिधि में प्रवेश करने से पहले यह आवश्यक है कि वह अपनी शक्ति तथा श्रद्धा, अपने धैर्य तथा संकल्प को अच्छी तरह दृढ़ीभूत बना ले और समीक्षण ध्यान के सबल माध्यम से अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियों को एकाग्रता के अनुशासन में सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर दे।

एकावधानता का प्रयोग

मनोनियंत्रण के रूप में की जाने वाली समीक्षण ध्यान की साधना यथार्थ रूप में अन्तर्यात्रा की ही साधना है यह स्पष्ट हो चुका है। इस यात्रा में अहंभाव के विसर्जन के बाद जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह है एकाग्रता अथवा एकावधानता की शक्ति। जब तक एकावधानता का प्रयोग सफल नहीं बनता है, तब तक आत्मशक्तियों का संचय संभव नहीं होता है। इसका यह अर्थ है कि एकाग्रता अथवा एकावधानता की साधना भी समीक्षण ध्यान साधना की ही अंगभूत है, जिसका प्रारंभ भी विधिपूर्वक किया जा सकता है।

एकावधानता कई प्रकारो अथवा कई विधियो द्वारा साधी जा सकती है। कोई किसी ध्वनि के माध्यम से किसी मंत्र की एकावधानता साधते हैं तो कोई बिन्दु–दर्शन पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित बना कर एकावधानता का अभ्यास करते हैं। मंत्र के माध्यम की दृष्टि से महामंत्र 'णवकार मंत्र' का सम्बल ग्रहण किया जा सकता है। इस महामंत्र के प्रथम पद की ध्वनि के आधार पर एकावधानता की साधना के द्वारा अन्तर्प्रवेश के साथ वृत्तियो के केन्द्र को व्यवस्थित रूप से सक्रिय बनाया जा सकता है। शब्द–ध्वनि शब्द से सम्बन्धित तरगो को उद्वेलित करती है।

शब्द–ध्वनि की ये तरगे जिस दिशा मे प्रसारित होती है, उस दिशा की आसपास की ध्वनियां प्रकम्पित हो जाती हैं। इस प्रकार का ध्वनि–प्रकम्पन प्रत्येक स्थान पर होता हैं और इस प्रकम्पन को साधक अपना सहायक बना सकता है। ध्वनि के प्रकम्पन बाह्य आकाश मंडल मे यथायोग्य दूरी तक पहुँचते हैं और साधक के लिए इन प्रकम्पनों का सम्बल बहुत ही महत्त्व का होता है। एक भी ऐसा प्रकम्पन यदि प्रवाह बनकर आन्तरिक अवस्थान मे प्रवाहित हो जाय तो आन्तरिक स्थानो के अनेक केन्द्रो मे सुशुप्त बनी अनेक शक्तियो को जागृत बनाने का कार्य हो सकता है। इस जागृति के फलस्वरूप एकावधानता की शक्ति बलवती बनती है, एकावधानता के प्रयोग सफल होते है। तथा समीक्षण ध्यान की भूमिका का सार्थक निर्माण हो जाता है। इसलिये महामंत्र के प्रथम पद की ध्वनि का प्रारंभ करते हुए पहले उच्च स्वर, फिर मध्यम स्वर तथा अन्त मे जघन्य स्वर मे उच्चारण किया जाना चाहिये। इस क्रम के बाद मानस स्वर व उसके अन्त में भावप्रधान अर्थ स्वर की स्थिति में ध्वनि परिणत हो जानी चाहिये। इससे भावोर्मियां अधिकाधिक क्रियाशील हो जाती है।

महामंत्र की ध्वनि के आधार पर एकावधानता के प्रयोग के समय तार–स्वर का रूप इस प्रकार होना चाहिये–

'णमो अ. ..रि. ..हं .ता .....णं ।' इस प्रकार तार स्वर का उच्चारण कम से कम ग्यारह बार लयबद्ध गति से चलना चाहिये। प्रत्येक ध्वनि के प्रारंभ से लेकर ध्वनि समाप्ति तक उच्चारण एक सामान चलना चाहिये। इन ग्यारह तार स्वर के बाद ग्यारह मध्यम स्वर का उच्चारण होना चाहिये 'णमो अ रि हं. ता णं। एक समान स्वर की पद्धति गतिमान रहनी चाहिये। उपयोग की अवस्था भी मध्यम स्वर के प्रारंभ से लेकर अन्त तक अस्खलित रहनी चाहिये। उसके बाद धीमे और जघन्य स्वर मे 'णमो

अरिहंताणं का ग्यारह बार पूर्वानुसार उच्चारण होना चाहिये। तदनन्तर ध्वनि का स्वर अपने कर्णगोचर न हो इस प्रकार मानस स्वर में ही ग्यारह बार जाप किया जाय। मानस स्वर का अर्थ है कि मन में ही प्रथम पद का उच्चारण हो, मन में ही उसका जाप हो, मन ही उसका श्रवण करे तथा मन ही लयबद्ध रीति से उसके साथ तल्लीन बन जाय। यह मन के स्वर की गति अखंडित रूप से चलनी चाहिये। फिर क्रम आयेगा अर्थ स्वर का। जिसमें भावप्रधान मंत्र के अर्थ का भावों में ही उच्चारण किया जाय। इस अवस्था में प्रथम पद का भाव ही साक्षी के रूप में श्रवण करने में आवे।

इन भावों के साथ में उपयोग की अवस्था निरन्तर उपस्थित रहनी चाहिये। यह प्रक्रिया भी पहले की तरह ग्यारह की गिनती के साथ भावात्मक रूप से की जानी चाहिये। इस विधि से ध्वनियों में तार स्वर की ध्वनि तरंगें छःओं दिशाओं में न्यूनाधिक परिमाण में प्रवाहित हो जाने के बावजूद बाह्य दिशाओं में अधिकांश रूप में प्रसृत हो जाती है। उसके कारण बाहर की ध्वनियाँ सक्रिय बन जायेगी। गौण रूप से यह ध्वनि भीतर के अवयवों को स्पर्श करेगी एवं अन्य तंत्रों को प्रकम्पित बनाती हुई आन्तरिक केन्द्रों तक पहुँच जायेगी। जबकि मंद स्वर की ध्वनि बाहर और भीतर समान मात्रा में प्रवाहित होगी, वहाँ जघन्य ध्वनि का सूक्ष्म प्रवाह प्रधान रूप से भीतर में ही बहेगा। बाहर तो वह गौण रूप से ही रहेगा। मानस स्वर तो मन की धरातल वाली ग्रन्थि–तंत्रों के क्रिया–केन्द्रों एवं ज्ञान–केन्द्रों को प्रभावित करना प्रारंभ कर देगा। भाव ध्वनि का सूक्ष्मतम प्रकम्पन स्थूल केन्द्र के मानस तंत्र की सूक्ष्म परिधि के समीप सूक्ष्म तथा बहुरंगी केन्द्रों को प्रभावित करता हुआ, सूक्ष्म केन्द्र के अग्रिम मोर्चे तक पहुँचने की शक्ति अर्जित करने में सक्षम बन जाता है। इस सूक्ष्म परिधि के सम्मुख जब–जब साधक किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पहुँच जाता है जिसे एक दृष्टि से जड़ग्रस्त स्थिति मान सकते हैं, तब–तब उस जड़ता को भाव ध्वनि के माध्यम से निष्क्रिय बनाना शक्य हो सकता है।

भाव ध्वनि के इन प्रकम्पनों को जब भी वर्गीकृत करने का प्रश्न सामने आयेगा, तब उस वर्गीकरण में समीक्षण ध्यान की महत्त्वपूर्ण गरिमा का अवश्य ही अनुभव होगा। इस विधि के द्वारा साधक सूक्ष्म परिधि के समीप में रहने वाली विविध स्थितियों का निर्णय लेने में समर्थ बन जाता है। यह प्रक्रिया इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से स्वरों की सहायता लेकर एकावधानता या एकाग्रता की स्थिति को साधक सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। इसके माध्यम से यदि साधक अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है

तो एकाग्रता से सम्बन्धित कई उपायों को वह सरल बना सकता है। कदाचित् इस विधि में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव हो तो एक अन्य विधि भी है--श्वास प्रक्रिया। सहज स्वाभाविक रूप से श्वास की गमनागमन की प्रक्रिया भी समीक्षण ध्यान को पुष्टि प्रदान कर सकती है। श्वास प्रक्रिया से समीक्षण ध्यान साधा जाय और उससे अन्तरावलोकन की स्थिति स्पष्ट बनाई जाय। वीतराग मुद्रा की स्थिति से साधक अपने मस्तिष्क के तनाव को समाप्त करके अवयवों का शिथिलीकरण कर ले और इस शिथिलीकरण के लिये यह श्वास प्रक्रिया का प्रयोग अधिक सुगम रहेगा क्योंकि यह प्रयोग समस्त मानसिक स्थिति को नेत्रों के समीप लाकर मन्द उच्चारण में 'जाने दो, जाने दो' के शब्द प्रतिध्वनित करेगा। तब तनाव मुक्ति भी होगी तो शिथिलीकरण की स्थिति भी उत्पन्न होगी।

शिथिलीकरण के अभ्यास को साध लेने के बाद उपयोगपूर्वक श्वास की गति का समीक्षण ध्यान के माध्यम से निरीक्षण करना आरंभ कर देना चाहिये। इसमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि श्वास का आना और जाना नासिका के किस रंध्र (छेद) में से हो रहा है ? दाहिने रंध्र में से या बांए रंध्र में से ? यदि दाहिने रंध्र में से श्वास का आवागमन हो रहा हो तो समझना चाहिये कि पिंगला नाड़ी सक्रिय हो रही है। यदि श्वास की गति बांए रंध्र में से आती-जाती मालूम पड़े तो उस अवस्था में यह माना जायेगा कि इड़ा नाड़ी गतिशील है। स्वर विज्ञों ने बांए रंध्र से आने-जाने वाले स्वर को चन्द्र स्वर कहा है तो दांए रंध्र वाले स्वर का नाम सूर्यस्वर बताया है। ये नाम स्वरशास्त्रज्ञाताओं के अपने पारिभाषिक शब्द हैं किन्तु योग साधना की दृष्टि से भी इन दोनों स्वरों का एकाग्रध्यानता या एकाग्रता साधने में बड़ा महत्त्व माना गया है। इनसे एकाग्रता के केन्द्र रूप समता के धरातल का ज्ञान भी किया जा सकता है। जब तक एक-एक स्वर चालू रहता है तब तक वह अवस्था राग और द्वेष की विद्यमानता का सूचन करती है। वह स्वर समता का सूचक नहीं होता है। दांया स्वर राग की तो बांया स्वर द्वेष की गति का प्रतिनिधित्व करता है। जब दोनों स्वरों की गति समान रूप की अवस्था में परिलक्षित होने लगे तब वह अवस्था सुषुम्ना नाड़ी के स्वर को सक्रिय बनाने की स्थिति में आ जाती है। यह अवस्था रात और दिन की परिणति से ऊपर उठाकर समता की भूमिका का निर्माण करने में सहायक बन सकती है।

सुषुम्ना के सक्रिय हो जाने के बाद दोनों स्वरों की गति शान्त और स्थिर बन जाती है। क्योंकि सुषुम्ना का सम्बन्ध शीर्ष तथा पूरे नाड़ी तंत्र के

साथ होने के कारण शक्ति केन्द्र, आनन्द केन्द्र, शुद्धि केन्द्र और ज्ञान केन्द्र संचालित करने की योग्यता साधक को प्राप्त हो जाती है। इन केन्द्रों के साथ सम्बन्ध रखने वाली ग्रन्थियाँ भी तब सुन्दर रीति से रसों का परिष्यंदन करेगी और उसी प्रकार केन्द्रों में रहे हुए रंगों के साथ स्थान की एकाग्रता, श्वास की स्तब्धता तथा मंत्र की भावात्मक शक्ति का संयोग आन्तरिक शक्तियों के आलोक को उद्भासित कर देता है। इस प्रकार एकावधानता के प्रयोग एवं प्राप्ति की ये विधियाँ वर्णित की गई हैं, जिन के माध्यम से साधक अपनी विश्रृंखलित चित्तवृत्तियों को नियोजित करके समानस्वरता प्रदान कर सकता है। यह समानस्वरता अथवा समरसता समीक्षण ध्यान की पूर्व भूमिका का रूप लेती है।

समीक्षण शरीर तंत्र का

यह दृश्य शरीर भी साधक की साधना के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवस्थान है। इस दृश्य शरीर की भी आन्तरिक संरचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह जीवन दृश्य शरीर की सीमा तक ही सीमित नहीं है। दृश्य शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर है तथा उससे भी आगे सूक्ष्मतम शरीर है। कम से कम ये तीन शरीर तो जीवन की वर्तमान उपलब्धि के रूप में विद्यमान हैं ही। इन तीनों शरीरों की आन्तरिक व्यवस्था एक–दूसरे से सम्बन्धित है। संधि स्थान के रूप में प्रत्येक शरीर की अपनी–अपनी सीमा में कार्य परिणति समुचित रूप से संचालित रहती है। साधक जब तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर में आवृत्त सच्चिदानन्द का साक्षात्कार नहीं करता है, तब तक उसके आत्म विकास की महायात्रा गतिमान रहती है।

यदि कोई व्यक्ति किसी दुर्ग में प्रवेश करना चाहता है तो पहले उसे उस दुर्ग की दीवारों, कोटों, कंगूरों तथा उसकी आन्तरिक संरचना की स्थिति को जान लेना जरूरी है। उस जानकारी के साथ उसकी निरीक्षण शक्ति भी प्रखर होनी चाहिये। तभी वह उस दुर्ग में प्रवेश करके अभिवांछित स्थान तक पहुँच सकता है। साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व इसी प्रकार साधक को भी शरीर तंत्र का समुच्चय ज्ञान कर लेना चाहिये। अगर कोई साधक इस तथ्य की उपेक्षा करता है तो वह दुर्ग में छिपे हुए खजाने का अता–पता कभी भी नहीं पा सकेगा। अपने आत्मस्वरूप में ज्ञान और सुख का जो खजाना छिपा हुआ है, उस तक अपनी पहुँच करने के लिए पहले शरीर तंत्र रूपी दुर्ग की सब प्रकार की जानकारी करना तथा निरीक्षण शक्ति को सुघड़ बना लेना जरूरी है। इसके बिना कोई साधक अपने भीतर रहे हुए आनन्द–कोष का

उद्घाटन नहीं कर सकेगा।

शरीर भी धर्मसाधना का अनिवार्य साधन है। आध्यात्मिक दृष्टि से पहले ही कोई साधक यह मान ले कि इस शरीर के साथ मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। शरीर विधानों के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं, विधि अथवा व्यवस्थाओं से मेरा कुछ भी लेना देना नहीं है तो वह साधक भूल करता है। शरीर–तंत्र के सम्यक् अनुसंधान तथा नियोजन के बाद ही वह आध्यात्मिक क्षेत्र में बढ़ सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस शरीर तंत्र के सबल माध्यम को सांसारिक काम भोगों में न लगाकर धर्मसाधना के क्षेत्र में समभावपूर्वक नियोजित किया जाय। इस पुरुषार्थ का यह श्रेष्ठ फल साधक के समक्ष आ सकता है कि उसे अपने आत्म–स्वरूप में रहे हुए सच्चिदानन्द का साक्षात्कार हो जाय।

आध्यात्मिक धरातल पर साधना कर रहे साधक के लिए सच्चिदानन्द के साक्षात्कार रूपी लक्ष्यगत आस्था तो समुचित है किन्तु इस लक्ष्य की अभीष्ट सिद्धि हेतु किन–किन अवस्थाओं के साथ किन–किन मार्गों का अनुसरण करके किस प्रकार के तत्त्वावलोकन द्वारा किन–किन शक्तियों का निर्धारण करने से अन्तरात्मा में आवृत्त निधि अभिव्यक्त की जा सकेगी–उसका पूर्व ज्ञान अनिवार्य होता है। इस ज्ञान के अभाव में हजारों या लाखों वर्ष तक तो क्या अनन्तानन्त काल तक संसार का परिभ्रमण करते रहने पर भी लक्ष्य की प्राप्ति असंभव ही बनी रहेगी। पुरुषार्थ भी भले किया जाता रहे किन्तु वास्तविक गन्तव्य स्थान तक पहुँचना नहीं हो सकेगा। यह तथ्ययुक्त वस्तुस्वरूप का सत्य कथन वीतराग देवों ने किया है।

परम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए साधक को लक्ष्य के आन्तरिक आयामों, अवस्थाओं और उनसे सम्बन्धित तंत्रों आदि का पूर्वावलोकन कर लेना चाहिये। यह अवलोकन भी समीक्षण ध्यान की धुरी पर ही संभव होगा। यद्यपि इस वर्तमान युग में शरीर–चिकित्सा–शास्त्रियों ने शरीर के विभिन्न अंगोपांगों के बारे में काफी नई जानकारियाँ हासिल की हैं, फिर भी शरीर में निवास करने वाली आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी जान पाना तो दूर अभी तक वे शरीर-तंत्र की अति सूक्ष्म प्रक्रियाओं को भी नहीं पहचान पाये हैं। आत्मा के सम्बन्ध में वे कुछ भी नहीं जान पाये हैं, यह तो ठीक–किन्तु वे आत्म-ज्ञान के प्रति आवश्यक आस्था भी नहीं बना पाये हैं। अतः उनकी शरीर सम्बन्धी जानकारियाँ भी अधूरी ही रहने वाली, क्योंकि शरीर–तंत्र की समग्र जानकारी के साथ ही आत्मतत्त्व के ज्ञान की दिशा में आगे बढ़ा जा

सकता है। उनकी इस आस्था की अभावस्थिति के पीछे कई कारण हैं किन्तु मुख्य कारण है अर्थ–दृष्टि की प्रधानता। आज. का मानव अर्थ–दृष्टि को सर्वोपरि मानता है तथा अर्थ की उपलब्धि के लिये अन्यान्य साधनों के साथ शरीर के स्थूल विज्ञान को मानकर ही सन्तोष कर लेता है। येन–केन–प्रकारेण मेडिकल परीक्षाओं को उत्तीर्ण करके ही अपने शरीर सम्बन्धी स्थूल ज्ञान को लेकर वह अर्थोपार्जन में तन्मय हो जाता है। इस कारण शरीर तंत्र के सूक्ष्मतम अवयवों की आन्तरिक परिधि में क्या–क्या रहस्य समाये हुए हैं इस दिशा में उसकी चिन्तन शक्ति आगे नहीं बढ़ पाती है। वह इस दिशा में जिज्ञासु भी नहीं बनता है।

परन्तु जो शरीर विज्ञान के ज्ञाता स्थूल विज्ञान तक ही सीमित न रह कर इस तंत्र की सूक्ष्मता में प्रवेश करते हैं वे उसकी व्यापक शोध में लगे हुए हैं। उन्होंने किन्हीं नवीन रहस्यों का ज्ञान भी किया है। कई वैज्ञानिक मनोविज्ञान को शरीर विज्ञान से जोड़कर कई प्रकार की ग्रंथियों की खोज भी कर पाये हैं, जो सूक्ष्म तंत्र की जानकारी लेने के काम में बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। ये ग्रंथियाँ प्रणालीयुक्त रसवाहिनी भी हैं और प्रणालीविहीन अन्तः स्रावों को स्थूल शरीर में पहुँचाने वाली भी हैं। यह हर्ष का विषय है कि इन नवीन शोधों से ही वे वैज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हो गये हैं किन्तु अपने अनुसंधानों को आगे बढ़ा रहे हैं।

आध्यात्मिक विज्ञान के विज्ञाता साधक इस क्षेत्र में निश्चय ही आगे बढ़े हुए हैं। इन साधकों में कई तो अनुकरणशील प्रवृत्ति के ही होते हैं और विरले साधक अपनी अनुकरणशीलता का नूतन संशोधनों के साथ अपना सामंजस्य बिठाते हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक कोष की उपलब्धि के इच्छुक साधक तो अपना स्थिर प्राप्य विषय सच्चिदानन्द को ही मानते हैं। यह सच्चिदानन्द स्वरूप जिन आवरणों के पीछे छुपा हुआ है, उन आवरणों के अन्दर प्रवेश कराने वाले द्वारों की खोज में वे यत्नशील बनते हैं। स्थूल शरीर के वर्तुल में ऐसे अनेक प्रवेश द्वार हैं जिनमें सर्वाधिक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण प्रवेश द्वार श्वास प्रणाली (प्राणायाम) का है। इस श्वास प्रणाली के वाहन पर यदि साधक एक बार सफलतापूर्वक आरूढ़ हो जाता है तो वह उस वाहन की सारी गतिविधि से भी परिचित हो जाता है। उस वाहन से वह आन्तरिक वाहन का अवलंबन प्राप्त करके विराट आन्तरिक मार्ग पर शक्ति के साथ चल पड़ता है।

ऐसा साधक भीतर में रहने वाले पांच प्रकार के वायु संस्थान तथा उनकी समीपता से प्राणवायु का मूल्यांकन कर लेता है। इसी मूल्यांकन की सहायता से वह प्राणशक्ति की पहिचान कर सकता है। प्राणशक्ति के समीप पहुंच जाने पर सूक्ष्म परिधि के सान्निध्य में रहने वाली बहुरंगी शक्तियो को पहिचान पाने का सामर्थ्य उसमे जाग उठता है। उनकी पहिचान के बाद साधक का आगे का मार्ग आसान हो जाता है।

श्वास की अधिकाश गतिविधि नासिका के माध्यम से संचालित होती है। इसे विज्ञान के क्षेत्र मे ऑक्सीजन (प्राणवायु) कहते हैं। यह ऑक्सीजन वनस्पति आदि तत्वो में से बहुलता से प्राप्त होती है। यह ऑक्सीजन जब फेफड़ो मे पहुंचती है तो वहाँ रक्त-शुद्धि का कार्य करती है। यह शरीर में रहे हुए अशुद्ध तत्वो को बाहर निकाल देती है। शरीर विज्ञान के वैज्ञानिक अपने ज्ञान की सीमा इस ऑक्सीजन तक ही सामान्य रूप से मानते हैं। परन्तु योग पद्धति आदि की दृष्टि से इस विषय का चिन्तन बहुत गहराई तक पहुंचा हुआ है।

श्वास द्वारा संगृहीत प्राणवायु रक्तशुद्धि के साथ-साथ रक्त संचरण मे भी समाविष्ट हो जाती है जिसके कारण प्राणवायु का फैलाव शरीर के छोटे से छोटे यानी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो से लेकर स्थूल से स्थूल अवयवों तक हो जाता है। इस रक्त संचार मे प्राणवायु का जितनी अधिक मात्रा में प्रभाव पड़ेगा, उतने ही प्रभाव से प्राणवायु शरीर के आन्तरिक संस्थानों में सुचारू संचालन की वाहिका बन जायेगी। इस प्राणवायु के उपरांत इसी अवस्थान के अन्तर्गत समान वायु भी मिल जाती है। यह समान वायु समान रूप से यथायोग्य स्थान-स्थान पर शरीर की आवश्यकताओ की सम्पूर्ति मे सहायक बनती है। आन्तरिक संस्थानो की हलनचलन और प्रकम्पन आदि अवस्थाओं के फलस्वरूप अन्य वायुओ का निर्माण भी हो जाता है। इन्हीं वायुओं में से जिस वायु का प्रवाह ऊर्ध्व दिशा मे जाता है, उसे ऊर्ध्ववायु के नाम से पहिचानते है। दूसरी तरह वायु शरीर के अधोभाग की तरफ बहती है, उन्हें अधोवायु कहते है। ऊर्ध्व और अधोवायु की दिशाओ से अलग विभिन्न दिशाओ मे भी शरीर के अवयवो से उत्पन्न होने वाले वायु को व्यानवायु के नाम से पुकारते है। इस प्रकार योग पद्धति के अनुसार पांच प्रकार की वायु शरीर के आन्तरिक अवयवो मे व्याप्त होकर फैली हुई रहती है।

शरीर में जहाँ कही वेदना का अनुभव होता है, उसका अधिकांश भाग वायु वेग के अवरूद्ध हो जाने के कारण ही होता है। इस अवरोध का मुख्य कारण व्यक्ति के बाह्य जीवन में व्यवस्थित क्रिया–कलाप का अभाव होता है। इस वायु संस्थान तथा उसके विभिन्न विभागों को व्यवस्थित रीति से संचालित करने के ज्ञान का अभाव भी इसका कारण है। सही ज्ञान नहीं होने से वायुओं का व्यवस्था–तंत्र बिगड़ जाता है। इतना ही नहीं, कई बार तो व्यवस्था–तंत्र ऐसा अस्त–व्यस्त हो जाता है कि उसकी विकृति के कुप्रभाव से समग्र शरीर का ढांचा ही नहीं, समग्र जीवन की नौका ही डोलायमान हो जाती है। इस दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि मनुष्य भी अन्य प्राणियों के समान यंत्रवत् ही उत्त्पन्न होता है तथा यंत्रवत् ही अपना जीवन गुजारता है। वह अपने बाहरी अवयवों को तो श्रृंगार करता फिरता है–बाहरी अवयवों को सुन्दर बनाने के लिए अथवा उनकी सुन्दरता को बनाये रखने के लिए अपनी शक्ति का व्यय करता है, परन्तु इस शरीर के बाहरी अवयवों की सुन्दरता विशेषतः आन्तरिक वायु संस्थान की व्यवस्था आदि प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है– यह वह नहीं जानता।

मनुष्य अपने जिन अंगोपांगों पर अपनी सुन्दरता का अनुभव करता है और जिनकी साज सज्जा के लिए अपनी पूरी जिन्दगी तक बिता देता है, बल्कि ऐसा करते हुए अपने को सुन्दर मानने के अभिमान में फूला नहीं समाता है, वही मनुष्य अपने भीतरी संस्थान को तथा उनकी सूक्ष्म प्रक्रियाओं को नहीं समझता। इन्हीं अंगोंपांगों के भीतरी संस्थान में प्रवाहित होती हुई वायु जब प्रकुपित हो जाती है और उसका प्रकोप असाध्य बन जाता है तब यह बाहर दिखाई देने वाली सुन्दरता बहुत जल्दी बदसूरती में बदल जाती है। यह विषय प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुभवगम्य हो सकता है किन्तु तभी जब वह आन्तरिक व्यवस्था की ओर अपना ध्यान लगावे।

मनुष्य तो ऊपरी रूप रंग को सजाने के साथ–साथ पुष्ट और अधिक सुन्दर बनने की लालसा में अधिकाधिक पौष्टिक पदार्थों को भी उदरस्थ करता जाता है–यह सोचे बगैर कि अपनी लालची रसना के अधीन होकर वह जो पौष्टिक व स्वादिष्ट पदार्थों को बेमाप उदरस्थ करता जा रहा है, क्या वह उन पदार्थों को ठीक से पचा भी सकेगा ? विचित्र दशा ऐसी देखी जाती है कि पहले के खाये हुए पदार्थ तो पचते ही नहीं और उससे पूर्व ही वह अन्य स्वादिष्ट पदार्थ खाना शुरू कर देता है। परिणाम यह होता है कि पाचन तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है और उस परिस्थिति में वायुवाहक नाड़ियाँ वायु के

तन्त्र को चलाने के लिए अधिक सक्रिय होने की चेष्टा करती हैं। किन्तु क्षमता से अधिक भार पड़ने के कारण इस तीव्र चेष्टा से वे शीघ्र ही क्लांत हो जाती हैं। इस प्रकार वायु का सन्तुलन बिगड़ जाता है। पेट में पड़े पदार्थ सड़ने लगते हैं और सड़े हुए अन्न की दुर्गंध से समग्र वायुसंस्थान दूषण से व्याप्त हो जाते हैं। यह दूषित वायु जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए अहितकर सिद्ध होती है। शरीर में इसके कारण बेचैनी बढ़ती जाती है। उस दशा में योग साधना की बात तो छोड़िये सामान्य व्यावहारिक कार्यों को करने की भी शक्ति नहीं रहती है। फिर वह डॉक्टर वैद्यों के पास जाता है। आज सही ईलाज करने वाले डॉक्टर वैद्य मुश्किल से ही मिलते हैं। अधिकांश डाक्टर, वैद्य अर्थोपार्जन में ही रचे-पचे होते हैं। अतः वे तेज दवाओं का प्रयोग करते हैं। फलस्वरूप रोगी के संवेदनशील ज्ञान तंतु क्षत विक्षित होकर इस तरह शून्यता पकड़ने लगते हैं कि तब दुःख की संवेदना भी सही तरीके से नहीं होती है। वेदना में कुछ कमी को महसूस करने से रोगी भ्रम में पड़ जाता है। वह सोचता है कि उसकी वेदना इन दवाओं से ही कम हुई है।

वास्तव में होता यह है कि आरोग्य आवे उससे पहले ही शरीर में कई प्रकार की विकृतियां प्रविष्ट हो जाती हैं। कई बार तो ऐसी दवाओं के अतिरेक से व्यक्ति की जीवन शक्ति का ही धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है।

यदि गंभीरतापूर्वक सोचें तो वर्तमान जीवन में प्राप्त यह सुखद जीवन शक्ति कितनी अमूल्य है जो अनुभव से भी अपूर्व है। फिर इसी जीवन शक्ति को जब आध्यात्मिक साधना एवं योग विषयक उपलब्धियों के साथ जोड़ देते हैं तो कितनी अननुभूत सुख शान्ति के समीप पहुँच सकते हैं ? वास्तविक जीवन-विज्ञान के अभाव में ही मनुष्य ऐसी दुर्व्यवस्था का शिकार हो जाता है जिसका सम्यक् समाधान योग पद्धति के माध्यम से भव्य रीतिपूर्वक किया जा सकता है। परन्तु यह कब किया जायगा ? जब इस जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहायक तत्वों का मूल्यांकन किया जायगा एवं सहायक तत्वों की प्रणाली तथा इससे सम्बन्धित जातीय-विजातीय स्वरूपों को विधिवत् विशुद्ध किया जायगा, तभी मनुष्य इस बात से सावधान हो सकेगा कि वह अशुद्धि स्वरूप वायु को अपने शरीर तंत्र के भीतर प्रविष्ट न होने दे। एक बार विकृत हुई वायु प्रणाली को तभी व्यवस्थित कर सकते हैं जब वहाँ भूख लगने पर ही भोजन किया जाय अथवा आवश्यक लगे तो उपवास व्रत-पूर्वक आरोग्यप्रद प्राणवायु को ग्रहण करें ताकि सम्पूर्ण वायुसंस्थान पुनः सुव्यवस्थित बन सके।

अपने सम्पूर्ण सुप्रभाव के साथ जब प्राणवायु प्रत्येक अंग–प्रत्यंग में पहुँच जाती है तब उसका जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग प्राणों के साथ सम्पर्क होता है। यह सम्पर्क साधक को सूक्ष्म परिधि के समीप पहुंचने में सहायक बनाता है। तब साधक को सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम अवस्थानों एवं उनके अन्तर्गत बनी ग्रंथियों को समझने व सुलझाने का सुअवसर मिल जाता है। यही नहीं, अन्ततोगत्वा उसे सच्चिदानन्द के समीप पहुँच जाने का सुअवसर भी मिल सकता है।

तात्पर्य यह कि शरीर के समस्त अवयवों की अपेक्षा भी श्वास–प्रश्वास सम्बन्धी प्रक्रियाएँ अधिक महत्त्व रखती हैं। इनकी सहायक क्रियाओं का भी बड़ा महत्त्व होता है। अतः साधक श्वास प्रणालिका को सर्वाधिक महत्त्व दे तथा उसका समुचित मूल्यांकन करे। इसके पश्चात् ही वह अपने पुरुषार्थ को सार्थक रूप से क्रियाशील बना सकेगा।

श्वासानुसंधान

श्वास–प्रश्वास एक प्रकार से आन्तरिक क्रियातंत्र के संकेत चिन्ह (कांटामापक यंत्र) है। जैसे पेट्रोल की टंकी पर लगे कांटे से उसके भीतर रही हुई मात्रा का संकेत मिल जाता है, उसी प्रकार जीवन सम्बन्धी समस्त क्रियाकांडों का संकेत श्वास की गतिविधि से जाना जा सकता है। एक दृष्टि से भीतर के क्रियाकांड एक विशाल कारखाने की मशीनों और उनके कार्य के समान हैं। उस विशाल कारखाने की बड़ी–बड़ी मशीनों के बीच में अगर छोटे से छोटे तार में भी कहीं अवरोध पैदा हो जाय तो सारी मशीनरी पर उसका असर पड़ता है। उसी प्रकार इस शरीर तंत्र के भीतर होने वाली स्थूल अथवा सूक्ष्म क्रिया–प्रक्रियाओं के बीच में यदि किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ी तंत्र की क्रिया में भी अवरोध पैदा हो जाय तो उस रुकावट का समग्र शरीर विषयक क्रियाकलाप पर बुरा असर पड़ता है। इस असर की सूचना श्वास प्रणालिका से मिल सकती है। इस कारण इस प्रणालिका–विज्ञान का बहुत गहराई से अध्ययन अवश्यक है। इससे अवरोध के कारणों की, भलीभांति जानकारी हो सकेगी, बल्कि उन कारणों को दूर करने, तन्त्र को पुनः सुव्यवस्थित बनाने की प्रेरणा भी पैदा होगी।

श्वास प्रणालिका के माध्यम से, जिस प्रकार शरीर तन्त्र के भीतर चलने वाले क्रियाकलापों का प्रभाव जाना जा सकता है, उसी प्रकार मानसतन्त्र सम्बन्धी भावोर्मियों का प्रभाव भी श्वास की गति से अभिव्यक्त होता है। कोई व्यक्ति अपने ज्ञान केन्द्र किस भाव के साथ अपने क्रिया के

माध्यम से, मानसतन्त्र को झंकृत करता हुआ, शरीर के क्रियाकलापों को प्रभावित बना रहा है, यह विज्ञान भी श्वास-विज्ञान की परिधि में आ जाता है।

शरीर के आन्तरिक अवयवों पर, बाहर से ग्रहण किये गये, अपाच्य पदार्थों का ही नहीं, मलिन विचारों का भी दुष्प्रभाव पड़ता है। समझिये कि ज्योंही मलिन भावों ने, सर्वतन्त्रों पर अपना प्रभाव छोड़ा, त्योंही भीतर में एक अकुलाहट-सी फैल जाती है। उस समय में श्वास विधिज्ञ-साधक, उन भावों के प्रभाव को तत्क्षण निष्फल बनाने की अपनी कला का, यदि प्रयोग करे तो इन भावों के प्रभाव को नासिका के माध्यम से वापस बाहर फेंक सकता है। उन मलिन भावों के प्रभाव के स्थान पर तब वह शुभ भावों के प्रभाव को व्याप्त बना सकता है। जैसे पंप (नल या टूटी) की सहायता से टंकी में भरे गंदे पानी को बाहर फेंक कर भीतर साफ पानी भरा जा सकता है, उसी प्रकार यह नासिका पंप का काम करती है। इस एकदेशीय रूपक को समझ कर यदि साधक मलिन भावों को श्वासनली से बाहर निकालता रहे और निर्मल भावों को भीतर ग्रहण करता रहे तो उसकी साधना दिन-प्रतिदिन फलवती बनती जाती है। एक दिन वह लक्ष्य के समीप भी पहुंच सकता है। एक दृष्टांत से इसे समझिये। जिस समय साधक के भीतर में क्रोध का मलिन भाव उठे तो उस समय वह उस भाव को वाणी अथवा शरीर के अन्य अवयवों से बाहर प्रकट न होने दे, अपितु श्वासविधि के माध्यम से शान्त-प्रशान्त श्वास वर्गणाओं के स्कंधों को भीतर खींचे। जितने स्कंधों को खींच सके, उन्हें पर धीरे तथा दो सैकिंड का श्वास का आन्तरिक कुम्भक करे और बाद में क्रमबद्ध आन्तरिक श्वास को बाहर फेंकने की चेष्टा करे। ऐसी प्रक्रिया कुछ समय तक करते रहने पर क्रोध का प्रभाव सफल न होकर निष्फल बाहर निकल जायगा। शान्त वर्गणा से सम्बन्धित श्वास वर्गणा का बारी-बारी से भीतर प्रवेश होने के कारण कषाय-क्रोध विषयक दुर्गंध समाप्त हो जायगी। ऐसी प्रक्रिया काम-विकार अथवा अन्य प्रकार के विकारों को बाहर निकालने में सक्षम बनती है।

कार्य–कारण सम्बन्ध आदि भी नजर में आते हैं। आन्तरिक क्रियाकलापों के अस्त व्यस्त हो जाने से भीतर में दुर्गंध व्याप्त हो जाती है। इस दुर्गंध का प्रभाव नियंत्रण केन्द्र पर पड़ता है और ज्यों ही नियंत्रण केन्द्र शिथिल हो जाता है त्यों ही काम क्रोध का दुष्प्रभाव प्रकट होने लग जाता है। इससे पहले से व्याप्त दुर्गंध और अधिक गहरी हो जाती है।

यदि यही क्रम दीर्घकाल तक इसी प्रकार चलता रहे तो व्यक्ति का समग्र जीवन दोनों प्रकार की गंदगियों से भर उठता है, और सड़ांध मारने लगता है। इन दोनों प्रकार की गंदगियों की सघनता केवल श्वास–तंत्र को प्रभावित बना कर ही समाप्त नहीं हो जाती है, बल्कि अन्य तंत्रों पर भी अपना दुष्प्रभाव छोड़ती है। इससे तपस्तंत्र पर भी बुरा असर पड़ता है। इस हेतु साधक को उपवास–व्रत या लम्बी तपस्या करने का अभ्यास बनाना चाहिये ताकि अन्दर की दुर्गंध अन्दर ही समाहित हो जाय। उसके साथ ही शेष गंदगी को विरेचन पदार्थ आदि के माध्यम से बाहर निकालकर आहार तन्त्र को स्वस्थ एवं सक्रिय बनाना समीक्षा के लिये आवश्यक है। इस शेष गंदगी को बाहर निकालने में श्वास तंत्र सहायक होगा तो गंदगी बाहर निकल जाने के बाद वह पुनः स्वस्थ रूप से सक्रिय भी बनेगा। जिससे नियंत्रण केन्द्र सबल बन जाता है और नये केन्द्रों से प्रवेश पाने वाली गंदगी भीतर पहुँच नहीं पाती है। साधक यदि प्रत्येक समय सावधान रहे और अपने विवेक तंत्र को सतर्क रखे तो भीतर के अवस्थानों में उत्पन्न होने वाली काम–क्रोधादि वृत्तियों को वह रूपान्तरित कर सकता है।

इस प्रकार की प्रक्रिया को सावधानी के साथ लम्बे समय तक सक्रिय रखी जाय तो साधक सूक्ष्म परिधि की समीपता में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों का स्वयं स्रष्टा और निर्माता बन कर स्वतंत्रता साध सकता है।

प्रबलतम शक्ति संकल्प

इस त्रिआयामी साधना में सबसे प्रबलतम शक्ति होती है संकल्प की शक्ति। संकल्प जितना प्राणवान् होगा, साधना उतनी ही सप्राण होगी। इस संकल्प शक्ति का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ कम किन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ अधिक होता है। वह संस्कारात्मक सूक्ष्म शरीर भी जिसमें सूक्ष्म वृत्तियों के भी संस्कार होते हैं, आज से नहीं, अनादि एवं अनन्तकाल से ढलती आ रही चेतना के साथ सम्बन्धित होता है। इस चेतना से अज्ञानवश इन वृत्तियों को निज भाव रूप में मान रखी है। बस यही भूल इस चेतन सत्ता को अनन्त काल से संत्रस्त बना रही है। चूंकि यह भूल अनन्त काल की है, इस कारण उसका

परिमार्जन एकदम कुछ ही क्षणों में या कुछ वर्षों में ही हो जाय—इसकी कम सम्भावना रहती है। इसे सुधारने के लिये तो कई जन्मों तक साधना करनी पड़ती है। जिन महान् चेतनाओं ने अपनी ऐसी विकारी वृत्तियों पर विजय प्राप्त की है उन्होंने भी अपने अनेक जन्मों की साधना के द्वारा वह विजय प्राप्त की है। हमें भले ही ऐसा लगा हो कि उन महापुरुषों ने इसी जन्म में आत्म-साक्षात्कार करके मुक्ति प्राप्त कर ली। किन्तु मुक्ति प्राप्त होती है पूर्व जन्मों की अनेक साधनाओं के बल पर ही। ऐसा अपवादरूप से हो सकता है कि आत्मा की अवस्थिति का परिपाक अत्यन्त त्वरित गति से हो जाय। यह एक अलग बात है।

इस प्रकार ऐसा उत्साहपूर्ण सकल्प सदा बना रहना चाहिये कि इस जन्म में नहीं तो, मैं आगामी जन्म में अवश्यमेव अपने लक्ष्य को प्राप्त करके सिद्ध अवस्था में पहुँच जाऊँगा। यदि ऐसा सकल्प प्राणवान् होगा तो साधक इन विकारी वृत्तियों को परास्त करके सर्वकर्म विनिर्मुक्त लोकालोक के साक्षात्कर्ता सिद्धस्वरूप को अवश्य ही प्राप्त करके रहेगा।

ऐसे दृढ सकल्प का संस्कार जब सूक्ष्म शरीर के साथ चेतना में संयुक्त हो जाता है, तब वैसे ही सुसंस्कार जन्म-जन्मान्तर तक अनुगामी बन जाते हैं। इस वजह से उसकी शक्ति आगामी जन्म में भी आध्यात्मिक ऊर्जा को सम्बल प्रदान करती है। यह प्रबल सम्बल एक दिन सूक्ष्मतम शरीर के समस्त विकारों को उखाड़ कर फेंक देता है और परम शुद्धि का द्वार खोल देता है।

सद्विचार की शक्ति

तीव्रतम सकल्प के साथ इस साधना में एक अन्य शक्ति की भी अपेक्षा रहती है और वह है सद्विचार की शक्ति। यह सद्विचार की शक्ति जब तक सकल्प की संपुष्टि का वातावरण तैयार करती रहती है, तब तक सकल्प शक्ति क्रियाशील बनी रहती है। संपुष्टि का ऐसा वातावरण न हो तो सकल्प शिथिल बन जाता है। यदि सम्पूर्ण जीवन ही विलासपूर्ण वातावरण से विलग हो जाय और अपने आध्यात्मिक सकल्पों का आवर्तन करता रहे तो इन सकल्पों की सहायता से लक्ष्य सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इसलिये सकल्प-साधना के साथ-साथ सद्विचारों के वायुमण्डल का निर्माण बहुत आवश्यक है अथवा यों कहा जा सकता है कि सकल्प रूपी नगर की सुरक्षा के लिये पवित्र विचारों का उसके चारों तरफ कोट बहुत जरूरी है।

विचारों के अनुसार ही जीवन के स्वरूप का सृजन होता है— ऐसी जैन दर्शन का एक सिद्धान्त की निश्चित मान्यता है। वास्तव में तो वर्तमान जगत

के विचार ही भावी जीवन निर्माण की रूपरेखा बनाते हैं। अतः इस संदर्भ में विचारों की महत्ता और अधिक बढ जाती है कि आज के विचार आचार ही कल के जीवन की नींव रखेंगे।

ये विचार यदि अप्रशस्त होंगे तो जीवन अप्रशस्तता की दिशा में गति करेगा और आगामी जीवन को भी अप्रशस्तता का रूप देगा। इसके विपरीत प्रशस्त विचारों के द्वारा वर्तमान तथा अनागत दोनों जीवनों को समुज्ज्वल बनाया जा सकता है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी सिद्धि भी वैसी ही होती है। ध्यान साधना के परिप्रेक्ष्य में विशुद्धतम विचारों का सुप्रभाव सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम शरीरों पर अंकित हो जाता है और यदि आगामी जीवन का आयुष्य–बंध उन विचारों के दौरान हो जाय तो सूक्ष्मतम शरीर के साथ अनुबंधित वे विचार अपने भविष्य को याने कि आगामी जन्म को भव्यता प्रदान कर देते हैं। इस दृष्टि से साधानानुकूल वातावरण, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, स्वस्थ शरीर तथा आध्यात्मिक संयोग की अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हो जाती है जिनके माध्यम से फिर साधना का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है। तदनुसार गति करने पर अबाधित आनन्द को पाया जा सकता है।

सत्संकल्पों के समान ही सद्विचारों की ऊर्जा प्राप्त होने से साधना की गहराई में उतरते हुए साधक का इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिये कि मैं अविलम्ब अपने गंतव्य पथ की तरफ आगे बढ़ता जाऊँ और अचल सिद्ध स्वरूप का वरण करलूं। इस दृढ़ संकल्प में संशय को कोई भी स्थान नहीं दिया जाना चाहिये। अटल निष्ठा का संकल्प साथ हो और हो किसी भी व्यवधान से बाधित न होने की प्रखर भावना। तब विशुद्ध और मंगल विचारों व संकल्पों की सावधानी सफलता की ओर साधक को अग्रगामी बना देगी।

समीक्षण की पूर्णता

समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता के लिये तब तीसरे आयाम में निर्धारित भविष्य के संकल्पों में समता के संकल्प का उद्भव हो जाता है। समता का सर्वत्र प्रसार ही समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता का प्रदीप्त प्रमाण बनता है।

तब साधक के चित्त के सृजन का पहला सूत्र बन जाता है–समता का सूत्र। समग्र साधना का मूल हो जाती है समता की सरल भावना। जब तक समता की साधना सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में नहीं साधी जाती है, तब तक सफलता नहीं मिलती है और अन्तः प्रवेश मात्र एक काल्पनिक उड़ान बन कर अवरूद्ध हो जाता है। विषमता की ज्वालाएं सुलगती रहेगी तो उसमें साधना का पल्लवन असंभव ही बना रहेगा। बिना समता के अन्तःसाधना चाहे जितनी

[illegible] ही जाय, उसका धरातल भी तैयार नहीं हो सकेगा।

अतः सम्पूर्ण जीवनी शक्ति का समर्पण समता के लक्ष्य के लिये ही होना चाहिये। समता को ही अध्यात्म की प्राण ऊर्जा माननी चाहिये और जीवन में समता के संवर्धन का संकल्प लेना चाहिये। समत्व योग की चरम उपलब्धि यकायक नहीं हो जाती है यह सही है, फिर भी उसके प्रति आस्था का लौ अक्षुण्ण सम्यक् रीति से कर दिया जाय तो एक दिन वह समता विशाल वृक्ष का आकार ले लेगी। यही नहीं, उस वृक्ष के मीठे फल अनुपम आनन्द भी प्रदान करेंगे। समता सम्यक् आस्था के अभाव में जो भी साधना की जायगी, उसका समावेश विराधना की कोटि में ही होगा। इसके विपरीत स्वल्प मात्रा में भी साधी गई समतापूर्वक साधना लक्ष्य की दिशा में गतिमान बनायगी। वही परम समत्व योग के समीप भी पहुँचा देगी।

साधक के मन में विषमता के बीज वपित कर उसकी आत्म–चेतना पर अंकुरित होने लगें उससे पहले ही वह अपनी समस्त वृत्तियों को समता की साधना में नियोजित कर दें, जिससे उसकी साधना को अबाध गति प्राप्त हो सके। समत्व साधना से साधक को विचलित करने के लिये अनेक तूफान खड़े होते हैं, झंझावातों के आघात चलते हैं, किन्तु उसे इन सबका अपनी समुन्नत आत्म शक्ति से मुकाबिला करना होगा। आंधियों और तूफानों के लिये सभी दिशाएं द्रव्य और भाव रूप से खुली रहती है और यह कहना कठिन होता है कि किस दिशा से कितनी प्रबल आंधी उठेगी ? परंतु यदि साधक का अपना समत्व योग का आसन सुदृढ़ होता है तो वे आंधियाँ उमड–घुमड़ कर भी अप्रभावी ही रहकर थम जायगी। कारण, समत्व साधना एवं समीक्षण ध्यान का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। वे एक दूसरे के साथ पूरी गहराई और मजबूती से जुड़े रहते हैं। एक प्रकार से समीक्षण ध्यान को समता साधना का ही नाम दिया जा सकता है। समता पूर्वक सबकुछ देखना ही तो समीक्षण है।

समीक्षण की अन्तर्गत भावना को और अधिक स्पष्टता से समझ लें। इस देह के गृहिस्थ में सर्वशक्तिमान् चैतन्य अपनी समस्त शक्तियों को संगोपित करके रखा हुआ है और उसके द्रव्य तथा भाव रूप अनेक द्वार हैं। उन्हीं द्वारों से [illegible] प्रमादवश काम–क्रोध आदि विकारों के द्वारों से अथवा किसी भी [illegible] द्वार से समता साधना के बाधक तत्त्वों का प्रवेश संभव हो सकता है। ऐसी वेला में यदि अन्तश्चेतना की शक्ति विवेक के दीपक के साथ जागृत न हो [illegible] तो वे बाधक तत्व जो अनादि काल

से अपना आसन जमा कर बैठे हुए हैं, मलिन वृत्तियों को उभारेंगे तथा अल्प विकसित समता साधना के अंकुरों को उखाड़ कर ध्वस्त बना देंगे। इसलिये समीक्षण ध्यान की इस प्रक्रिया में समता की साधना के लिये सतत सविवेक जागृति की अपेक्षा रहती है।

सतत विवेक जागृति के दीपक को प्रदीप्त रखकर ही साधक समता की ज्योति को प्रज्वलित रख सकता है। कल्पना करें कि साधक समता की साधना में तन्मय बना हुआ है और उसकी आत्मलीनता अभिवृद्ध होती जा रही है, उस समय समझिये कि उसके कानों में इस प्रकार के विषम कटु शब्द आते हैं कि एक बार उसकी मनोभूमि पर विषमता की प्रतिध्वनि गूंजती है जो उसकी साधना की समता धारा को आन्दोलित कर देना चाहती है, तब भी वह अपनी समता धारा को शान्त-प्रशान्त बनाई रखे तो उसे समझना चाहिये कि उसकी साधना में परिपक्वता की स्थिति आने लगी है। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि वह विषमतापूर्ण कटु स्वर उसके ज्ञान केन्द्र को अस्थिर बनाकर विपथगामी बना दे तो वह भी विषम चिन्तन के लिये विवश बन जाता है। यह इस कारण होता है कि ज्ञान केन्द्र अपने क्रिया केन्द्रों को सूचित कर देता है, विषमता के फूट जाने के बारे में। तब प्रतिक्रिया में साधक की चेतना आन्दोलित हो जाती है। साथ ही शरीर के सर्व केन्द्र भी प्रकंपित हो जाते हैं। समझिये कि यहीं से समता साधना का स्खलन शुरू हो जाता है। द्रव्य मन पर भाषा के उन स्कन्धों का ऐसा प्रभाव पड़ता है जिसके कारण ही ऐसा अनर्थ घटित हो जाता है। यह स्खलन ऐसा होता है कि वर्षों की साधना की प्रगति में बहुत बड़ा व्यवधान खड़ा हो जाता है। दुष्ट शब्दों की एक सामान्य-सी क्रिया भीतर में कितनी भंयकर प्रीतिक्रिया उत्पन्न कर देती है-यह बहुत ही गंभीरता से समझने योग्य विषय है।

समीक्षण ध्यान साधक के लिये इस दृष्टि से यह चिन्तन आवश्यक है कि चाहे कटु हो या मधुर-सभी प्रकार के शब्दों के प्रति उसकी विवेकपूर्ण समत्त्व प्रज्ञा सदा जागृत रहे। उसका ज्ञान केन्द्र इतना तटस्थ और समभावी हो जाय कि वह अपने हिताहित के विषयों पर तत्काल सम्यक् निर्णय ले सके। उसके द्रव्य मन को वह इस तरह घड़ ले कि प्रतिकार की कैसी भी भावना उसे आन्दोलित या चलायमान न बना सके। तब ऐसी जागृति सामान्य और सहज रूप ग्रहण करके उसे आत्मस्थ रहने में समर्थ बना देगी। वैसी अवस्था में उसे बाहर की कोई भी क्रिया विचलित नहीं बना सकेगी। यही नहीं, उसकी सहजता और समता से अपशब्द की कटु क्रिया भी उसकी

साधना को अधिक सरल बनाने में सहायक भूत हो सकेगी।

समीक्षण ध्यान साधना में अपने ज्ञान तन्तुओं के ऊपर तथा इसी प्रकार समस्त बाधक तत्वों पर एक सशक्त नियन्त्रण उत्पन्न हो जाना चाहिये। यह नियन्त्रण इतना सुदृढ़ हो कि उसकी समत्व भावना एवं विवेक दृष्टि का दीपक सदा प्रकाशमान रहे और वह उस प्रकाश का सदा अनुभव लेता रहे। फिर चाहे वह अपशब्द सुने, वीभत्स दृश्य देखे, दुर्गंध सूंघे या अस्वाद पदार्थ चखे अथवा स्पर्शे, उसके मन को कोई भी प्रतिकूलता चंचल नहीं बना सकेगी। उसकी ऐसी सुदृढ़ता के साथ ही इन्द्रियातीत विषय जैसे पूर्व दृष्ट, श्रुत वगैरा भी साधक के चित्त को विकेन्द्रित नहीं कर सकेंगे। कभी-कभी इन्द्रियातीत विषयों को साधक भली प्रकार से पहिचान नहीं पाता है तो वे साधक ध्यान को विकेन्द्रित करने की चेष्टा करते हैं किन्तु उस समय साधक समीक्षण ध्यान के माध्यम से अपने को उनसे दूर खींच लेता है और समत्व योग से अपने आत्म स्वरूप की गहराई में डूब जाता है। वह अपने इस प्रकार के अभ्यासक्रम से अपनी अत्यन्त सूक्ष्मतम वृत्तियों के अवलोकन में भी सक्षम हो जाता है तो उन वृत्तियों के परिमार्जन में भी दक्षता प्राप्त कर लेता है। तब वे मलिन वृत्तियाँ उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकती हैं और वह साधक स्वयं अपने आत्म-स्वरूप का तथा लक्ष्य पथ का भी सफल दृष्टा बन जाता है।

जैसे नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त विकार वृत्तियाँ समीक्षण ध्यान के माध्यम से समत्व के महासागर में विलीन होकर समता भाव में रूपान्तरित हो जाती हैं तथा इस स्तर पर पहुंच कर समीक्षण ध्यान अपनी परिपूर्णता पा जाता है। तब चेतना भी अलौकिक एवं अनिर्वचनीय सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है।

चिन्तन आचरण में उतरे

यह त्रिआयामी रूप समीक्षण साधना अपने तीन चरणों में विकसित होती हुई मन शोधन तथा मनोविश्लेषण के सामर्थ्य को उजागर करके पूर्ण आत्म संयम को साधे एवं चरम व परम शांति की प्राप्ति तक पहुँच कर ही विश्राम ले -साधक का ऐसा सुदृढ़ संकल्प बनना चाहिये और चिन्तन जो यह [illegible] दिया, साधक के आचरण में उतरना चाहिये।

अपने अतीत का स्मरण करते समय साधक निरपेक्षदृष्टि अपनी [illegible] वृत्तियों का विश्लेषण भी करे तो साथ-साथ [illegible] की उदात्त [illegible] आदर्श रूप का स्मरण करते हुए वह परमात्म भाव के साथ एकाकार

से अपना आसन जमा कर बैठे हुए हैं, मलिन वृत्तियों को उभारेंगे तथा अल्प विकसित समता साधना के अंकुरों को उखाड़ कर ध्वस्त बना देंगे। इसलिये समीक्षण ध्यान की इस प्रक्रिया में समता की साधना के लिये सतत सविवेक जागृति की अपेक्षा रहती है।

सतत विवेक जागृति के दीपक को प्रदीप्त रखकर ही साधक समता की ज्योति को प्रज्वलित रख सकता है। कल्पना करें कि साधक समता की साधना में तन्मय बना हुआ है और उसकी आत्मलीनता अभिवृद्ध होती जा रही है, उस समय समझिये कि उसके कानों में इस प्रकार के विषम कटु शब्द आते हैं कि एक बार उसकी मनोभूमि पर विषमता की प्रतिध्वनि गूंजती है जो उसकी साधना की समता धारा को आन्दोलित कर देना चाहती है, तब भी वह अपनी समता धारा को शान्त–प्रशान्त बनाई रखे तो उसे समझना चाहिये कि उसकी साधना में परिपक्वता की स्थिति आने लगी है। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि वह विषमतापूर्ण कटु स्वर उसके ज्ञान केन्द्र को अस्थिर बनाकर विपथगामी बना दे तो वह भी विषम चिन्तन के लिये विवश बन जाता है। यह इस कारण होता है कि ज्ञान केन्द्र अपने क्रिया केन्द्रों को सूचित कर देता है, विषमता के फूट जाने के बारे में। तब प्रतिक्रिया में साधक की चेतना आन्दोलित हो जाती है। साथ ही शरीर के सर्व केन्द्र भी प्रकंपित हो जाते हैं। समझिये कि यहीं से समता साधना का स्खलन शुरू हो जाता है। द्रव्य मन पर भाषा के उन स्कन्धों का ऐसा प्रभाव पड़ता है जिसके कारण ही ऐसा अनर्थ घटित हो जाता है। यह स्खलन ऐसा होता है कि वर्षों की साधना की प्रगति में बहुत बड़ा व्यवधान खड़ा हो जाता है। दुष्ट शब्दों की एक सामान्य–सी क्रिया भीतर में कितनी भंयकर प्रीतिक्रिया उत्पन्न कर देती है–यह बहुत ही गंभीरता से समझने योग्य विषय है।

समीक्षण ध्यान साधक के लिये इस दृष्टि से यह चिन्तन आवश्यक है कि चाहे कटु हो या मधुर–सभी प्रकार के शब्दों के प्रति उसकी विवेकपूर्ण समत्त्व प्रज्ञा सदा जागृत रहे। उसका ज्ञान केन्द्र इतना तटस्थ और समभावी हो जाय कि वह अपने हिताहित के विषयों पर तत्काल सम्यक् निर्णय ले सके। उसके द्रव्य मन को वह इस तरह घड़ ले कि प्रतिकार की कैसी भी भावना उसे आन्दोलित या चलायमान न बना सके। तब ऐसी जागृति सामान्य और सहज रूप ग्रहण करके उसे आत्मस्थ रहने में समर्थ बना देगी। वैसी अवस्था में उसे बाहर की कोई भी क्रिया विचलित नहीं बना सकेगी। यही नहीं, उसकी सहजता और समता से अपशब्द की कटु क्रिया भी उसकी

साधना को अधिक सशक्त बनाने में सहायक भूत हो जायगी।

समीक्षण ध्यान साधना में अपने ज्ञान केन्द्रों के ऊपर तथा उसी प्रकार समस्त बाधक तत्त्वों पर एक सशक्त नियंत्रण उत्पन्न हो जाना चाहिये। यह नियंत्रण इतना सुदृढ़ हो कि उसकी समत्त्व भावना एवं विवेक दृष्टि का दीपक सदा प्रकाशमान रहे और वह उस प्रकाश को सदा अनुभव लेता रहे। फिर चाहे वह अपशब्द सुने, वीभत्स दृश्य देखे, दुर्गंध सूंधे या अस्वाद पदार्थ चखे अथवा स्पर्शे, उसके मन को कोई भी प्रतिकूलता चंचल नहीं बना सकेगी। उसकी ऐसी सुदृढ़ता के साथ ही इन्द्रियातीत विषय जैसे पूर्व दृष्ट, श्रुत वगैरा भी साधक के चित्त को विकेन्द्रित नहीं कर सकेंगे। कभी–कभी इन्द्रियातीत विषयों को साधक भली प्रकार से पहिचान नहीं पाता है तो वे उसके ध्यान को विकेन्द्रित करने की चेष्टा करते हैं किन्तु उस समय साधक समीक्षण ध्यान के माध्यम से अपने को उनसे दूर खींच लेता है और समत्व योग से अपने आत्म स्वरूप की गहराई में डूब जाता है। वह अपने इस प्रकार के अभ्यासक्रम से अपनी अत्यन्त सूक्ष्मतम वृत्तियों के अवलोकन में भी सक्षम हो जाता है तो उन वृत्तियों के परिमार्जन में भी दक्षता प्राप्त कर लेता है। तब वे मलिन वृत्तियाँ उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकती है और वह साधक स्वयं अपने आत्म–स्वरूप का तथा लक्ष्य पथ का भी सफल दृष्टा बन जाता है।

जैसे नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त विकार वृत्तियाँ समीक्षण ध्यान के माध्यम से समत्व के महासागर में विलीन होकर समता भाव में रूपान्तरित हो जाती हैं तथा इस स्तर पर पहुँच कर समीक्षण ध्यान अपनी परिपूर्णता पा जाता है। तब चेतना भी अलौकिक एवं अनिर्वचनीय सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है।

चिन्तन आचरण में उतरे

यह त्रिआयामी रूप समीक्षण साधना अपने तीन चरणों में विकसित होती हुई मनः शोधन तथा मनोविश्लेषण के सामर्थ्य को अवाप्त करे, पूर्णतः आत्म संयम को साधे एवं चरम व परम शक्ति की प्राप्ति तक पहुँच कर ही विश्राम ले–साधक का ऐसा सुदृढ़ संकल्प बनना चाहिये और चिन्तन का यह सम्पूर्ण विषय साधक के आचरण में उतरता जाना चाहिये।

अपने अतीत का स्मरण करते समय साधक विगतकालीन अपनी कलुषित वृत्तियों का चिन्तन भी करे तो साथ–साथ उनका शोधन भी करता जाय। आदर्श लक्ष्य का स्मरण करते हुए वह परमात्म भाव के साथ तादात्म्य

स्थापित करने की प्रेरणा भी ले तो अपने आत्म भाव को ऊर्ध्वगामी बनाने का पुरुषार्थ भी साधे। चिन्तन की गहराइयों में उतर कर वह विशुद्धतम मनः स्थिति का सृजन भी करे तो अपने कृर्तत्त्व की ऊर्जा को भी यत्नरत बनावे। इसके लिये उसे समीक्षण ध्यान के तीनो आयामों की साधना करते समय संकल्प की शक्ति, वातावरण की विशुद्धि, समय की नियमितता और विचारों की प्रांजलता को अपने सहयोगी अंगों के रूप में स्वीकार करना चाहिये। यह याद रहे कि समीक्षण ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिये सबसे पहले आवश्यकता होती है आत्म विकास की गहरी प्यास। यह पिपासा जितनी तीव्र होगी, ध्यान प्रयोग के प्रति उस की अभिरुचि भी उतनी ही तीव्र बनेगी। पूर्ण अभिरुचियुक्त पिपासा के साथ जो भी सत्कार्य हाथ में लिया जायेगा, उसकी सफलता असंदिग्ध बन जायेगी।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दें कि उद्देश्य दृष्टि की परिपूर्णता के प्रतिपादन के बावजूद यहाँ पर समीक्षण ध्यान का जो विधिक्रम बताया गया है, उसे एक वर्ष के अभ्यास का विधिक्रम ही मानें। पूरे वर्ष की साधना के बाद साधक के लिए आगे के मार्गदर्शन की अपेक्षा रहेगी। क्योंकि अपनी वर्ष भर की साधना में साधक के समक्ष कौन–कौनसे और कैसे–कैसे व्यवधान उपस्थित हुए, उसकी समीक्षा करके ही उसके लिये भावी विधिक्रम का निर्धारण करना पड़ेगा। इस मार्गदर्शन से वह अपने अगले चरण में व्यवस्थित रूप से गति कर सकेगा। जब वह इस त्रिआयामी समीक्षण ध्यान साधना में स्वस्थ गति ग्रहण कर लेगा तब वह अपने भावी कार्यक्रम के निर्धारण में भी योग्य बन जायगा।

साधक इस संकेत को अपने हृदय का तलस्पर्शी बनावे कि समीक्षण ध्यान का यह प्रतिपादन अथवा उसका स्वयं का चिन्तन मात्र विचारों तक ही सीमित न रह जाय। यह प्रयोगात्मक रूप से उसके आचरण में उतरे तथा जीवन में एकीभूत हो जाय। साधना के उसके प्रत्येक चरण में सजगतापूर्वक समर्पण की भावना का निर्माण हो जाय तथा वह यथार्थ कार्यान्वय में ढल जाय तो उसकी मनःशक्ति तथा आत्मशक्ति के भव्य द्वार खुल सकते हैं जिनमें प्रवेश करके वह सम्पूर्ण मुक्ति के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

इस बात की गाँठ बाँध लें कि आम जनता के सामने साधना विषयक शब्दात्मक चर्चा करके ही न रह जाना महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपितु ध्यान–साधना को पहले अपने जीवन में प्रेक्टिकल रूप देकर तथा स्वयं को आम जनता के सामने उस साधना के आदर्श रूप में रखना महत्त्वपूर्ण है। कई लोग इस

साधना को अपने जीवन में न उतार पाने के हजार बहाने ढूंढ़ लेते हैं, ऐसे लोग जब साधना की चर्चा करते हैं तो वह मात्र वाणी–विलास बन जाता है।

समीक्षण ध्यान साधना अथवा किसी भी सत्साधना का यही वास्तविक अर्थ मानना चाहिये कि उस साधना के बल पर जीवन में फैल रही अन्तर एवं बाह्य विकृत वृत्तियों का रूपान्तरण हो तथा साध्य की निकटता बने। यह लक्ष्य अवश्य पूरा हो सकता है बशर्ते कि उपरोक्त प्रयोग विधि को जीवन में आत्मसात् करके सर्व प्रकार के तनावों से मुक्त हो जाय एवं आत्म–दृष्टा भाव को जागृत बना लें। तब अशुभ वृतियों का शुभता में रूपान्तरण भी होगा तो सतत सावधानी से मुक्ति पथ पर आगे बढ़ते हुए आत्म देव के दर्शन भी होंगे।

आत्म–रमण की अवस्था

ध्यान साधना की सफलता से स्वरूप–दर्शन तो स्वरूप दर्शन से आत्म–रमण की अवस्था प्राप्त होती है। समीक्षण का सुफल ही आत्म–रमण के रूप में प्रतिफलित होता है। समतापूर्वक (समभाव के साथ) जब आन्तरिकता को निहारा जायेगा, तभी वहाँ विचरण करने की आवश्यकता महसूस होगी। निरीक्षण–परीक्षण के बाद ही क्रियाशीलता सुविचारित रूप से प्रोत्साहित होती है।

आत्मा के तीन प्रकार बताये गये हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। सुसाधना की गति बहिरात्मा से अन्तरात्मा तथा अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ती है। इन्द्रियों एवं बाह्य पदार्थों में जो आशक्ति होती है, उसे ही बहिरात्मा की संज्ञा मिलती है। जब उसी आत्मा के अन्तरंग में आत्मानुभव रूप आत्मसंकल्प बनता है, तब वही बहिरात्मा अन्तरात्मा का रूप ले लेती है। अन्तरात्मा ही अपनी सतत साधना से परम विशुद्धावस्था प्राप्त करके परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार का रूपान्तरण ही आज की कर्मबद्ध आत्मा को परमात्म–स्वरूप प्रदान करता है। इसी रूपान्तरण के लिये सम्पूर्ण साधनाएँ हैं जिन में ध्यान साधनाएँ प्रमुख हैं। ऊपर समीक्षण ध्यान साधना का जो सूक्ष्म विश्लेषण दिया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि एक साधक किस प्रकार तीन आयामों द्वारा अपनी अशुभ वृत्तियों का शुभता में रूपान्तरण कर सकता है।

आत्म–रमण की अवस्था में साधक बाह्य जगत् की अपेक्षा अपनी ही आन्तरिकता में अधिक विचरण करने लग जाता है। वह अवस्था उसकी सदा–जागृति की अवस्था होती है। वह सांसारिक व्यवहार के कार्यों में उदासीन बनता जाता है और स्व–पर के लोकोपकार में सतत सावधान हो

ज़ाता है। वह यह समझ जाता है कि जो सांसारिक व्यवहार के कार्यों में जागता है, वह आत्म–कार्यों में सोता है। यह समझ कर वह स्व–पर के लोकोपकार में तनिक भी प्रमाद नहीं करता है। वह सच्चा आत्म–रामी बन जाता है।

आत्म–रामिता आत्म–रमण का ही नाम है। आत्म–रामी सदा आध्यात्मिक विषयों का ही चिन्तन करता रहता है क्योंकि वह जो भी क्रिया करता है, विवेकपूर्वक करता है, फिर भी अपनी क्रिया की प्रतिक्रया को भी वह जांचता और शुभता की कसौटी पर कसता है। तदनुसार वह अपनी भावी क्रियाओं का परिमार्जन करता रहता है। आत्मावलोकन, आत्मालोचना, आत्मनियंत्रण, आत्मचिन्तन तथा आत्मदमन का एक प्रक्रिया–चक्र आत्मरामी की अन्तरात्मा में चलता रहता है जिसके आधार पर वह स्वयं के चिन्तन को समुन्नत बनाता है, उस चिन्तन की छाप दूसरों पर छोड़ता है और दूसरों के चिन्तन की समुन्नति को भी प्रेरित करता है। आत्मचिन्तन को स्वस्थ सुधड़ एवं सैद्धान्तिक रूप देने के लिये आत्म–समीक्षण के नव सूत्रों का निरूपण किया गया है, जो निम्नानुसार हैः–

(1) मैं चैतन्य देव हूं।

मुझे सोचना है कि मैं कहाँ से आया हूँ, किसलिये आया हूँ ?

चार गति चौरासी लाख जीव योनियों में भटकते हुए मुझे समझना है कि यह दुर्लभ मानव जीवन आदि किस पुण्योदय से प्राप्त हुआ है तथा जड़–चेतन संयोग, सुख दुःखानुभव एवं संसार के संसरण का क्या रूप है ? यह समझ कर मैं मूर्छा और ममत्व को हटाऊंगा, राग द्वेष और प्रमाद को मिटाऊंगा तथा अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मंगलमय बनाऊंगा।

(2) मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है ?

प्रबुद्धता की वेला में मुझे विदित होगा कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या आचरण मेरे नहीं हैं, परन्तु पर–पदार्थो के प्रगाढ़ मोह ने मुझे पाप कार्यों में फंसा रखा है। मैं मिथ्यात्व को त्यागूंगा, नवतत्त्व की आधारशिला पर सम्यक्त्व की अवधारणा लूंगा एवं आत्म–नियंत्रण, आत्मालोचना व आत्म–समीक्षण से अपने मूल गुणों को ग्रहण करता हुआ संसार की आत्माओं में एकरूपता देखूंगा।

(3) मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ।

मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है और कौनसे सिद्धान्त अपनाने हैं ?

मेरी दृष्टि लक्ष्याभिमुखी होते ही जान लेगी कि मैं सत्य श्रद्धा और श्रेष्ठ सिद्धान्तों से कितना दूर हूँ ? मैं सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर अविचल श्रद्धा रखूंगा, श्रावकत्व एवं साधुत्व के पालन में सत्सिद्धान्तों के आधार पर अपना समस्त आचरण ढालूंगा और ज्ञान व क्रिया के संयोग से निर्विकारी बनने में यत्नरत हो जाऊंगा।

(4) मैं सुज्ञ हूँ, संवेदनशील हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य तुच्छ भावों से ग्रस्त क्यों हैं ?

अनुभूति के क्षणों में मुझे ज्ञात होगा कि जड़ग्रस्तता ने मेरी मूल महत्ता किस रूप में ढक दी है, मेरे पुरुषार्थ को कितना दबा दिया है और मेरे स्वरूप को कैसा विकृत बना दिया है ? यही मेरी तुच्छता हीन–भावना का कारण है जिसे मैं तपाराधन से दूर करूंगा, मन, वाणी व कार्यो में लोकोपकार की महानता प्रकटाऊंगा और 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूंगा।

(5) मैं समदर्शी हूं, ज्योतिर्मय हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मन कहाँ–कहाँ घूमता है, वचन कैसा–कैसा निकलता है और काया किधर–किधर बहकती है ?

अन्तर्ज्योति के जागरण से मुझे प्रतीति होगी कि अंधकार की परतों में पड़ा हुआ मेरा मन भौतिक सुख–सुविधाओं की ही प्राप्ति हेतु विषय–कषायों में उलझ कर कितना मानवताहीन, वचन कितना असत्य–अप्रिय तथा कर्म कितना द्विरूप–अधर्ममय हो गया है ? मैं दृढ़ संकल्प के साथ मन, वचन एवं काया के योगों को सम्पूर्ण शुभता की ओर मोड़ दूंगा तथा भावना के धरातल पर समदर्शी बनने का प्रयास करूंगा।

(6) मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ।

मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हूं और मुझे क्या करना चाहिये ?

मेरा आत्मस्वरूप मूल रूप में सिद्धात्माओं जैसा ही है। मुझे देखना और परखना है कि यह मूल स्वभाव कितना विस्मृत हुआ है तथा विभाव कितना बढ़ गया है ? अपने आन्तरिक स्वरूप एवं जागतिक वातावरण का

दृष्टा बन कर मैं शुभ परिवर्तन का पराक्रम दिखाऊंगा, आत्म–शुद्धि का पुरुषार्थ प्रकट करूंगा एवं अहिंसा, संयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियों के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उसमें समभाव जगाऊंगा।

(7) मैं परम प्रतापी, सर्व शक्तिमान हूं।

मुझे सोचना है कि मैं बंधनों में क्यों बंधा हूं? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है ?

अपनी अपार शक्ति से समीक्षण ध्यान में मुझे आत्म–साक्षात्कार होगा कि मैं अष्ट कर्मों के सारे बंधन कैसे तोड़ सकता हूं और मुक्ति के मार्ग पर वीतराग देवों की आज्ञा में रहता हुआ कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ ? मैं अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूंगा, उसे लोक–कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा सर्व शक्तिमान् होने का उपक्रम करूँगा।

(8) मैं ज्ञानपुंज हूँ, समत्त्व योगी हूं।

मुझे सोचना है कि मुझे अमिट शान्ति क्यों नहीं मिलती, अक्षय सुख क्यों नहीं प्राप्त होता ?

ज्ञान के प्रकाश में मैं अनुभव करूंगा कि मेरा आत्म–समीक्षण एवं विश्व–कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है ? तब मैं एकावधानता से सम्यक् दर्शन ज्ञान व चारित्र की आराधना करूंगा, गुणस्थान के सोपानों पर चढ़ता जाऊँगा और समत्त्व–योग के माध्यम से अमिट शान्ति व अक्षय सुख को प्राप्त कर लूंगा।

(9) मैं शुद्ध, बुद्ध निरंजन हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है और उसे मैं प्राप्त कैसे करूं ?

शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में मुझे प्रतिभासित होगा कि मैं दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुष या नपुंसक कहाँ हूँ और वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के आकार वाला भी कहां हूँ ? मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अजर, अमर, अवेदी, असेदी–अलेशी आदि गुणों से सम्पन्न हूँ। इससे मैं गुणाधारित जीवन का निर्माण करूंगा, मनोरथ व नियम चिन्तन के साथ ज्ञानी व ध्यानी बनूंगा और अपन मूल स्वरूप को समाहित करने की दिशा में अग्रसर होऊंगा।

आगे के अध्यायों में इन्हीं नव–सूत्रों का विशद विवेचन किया गया है, इस दृष्टि से कि जब समीक्षण ध्यान का साधक आत्म–रमण की अवस्था में विचरण कर रहा हो तो वह इस विवेचन को एक बार पढ़े, कई बार पढ़े, बार–बार पढ़े और परिमार्जन वृत्ति को जागृत करते हुए, आत्मानुभूति के सुखद क्षणों का आन्तरिक आनन्द ले। साधक इस विवेचन के साथ अपने अन्तःकरण को एकीभूत बना कर यथार्थ रूप से आत्मालोचना कर सके, आत्मज्ञान ले सके और आत्म–पुरुषार्थ की दिशा में अपने चरण बढ़ा सके इस विचार से सारा विवेचन उत्तम पुरुष में दिया गया है। साधक उसे पढ़ते हुए एकात्मता का अनुभव करेगा और आत्म–चिन्तन की आनन्द–धारा में अपने आपको तन्मय बना सकेगा।

नव–सूत्रों की विशेषता

इन नव सूत्रों का निरूपण यह ध्यान में रखकर किया गया है कि समीक्षण की ध्यान साधना सम्पूर्ण बन सके। आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति से सम्बन्धित सभी विषयों को इन नव सूत्रों में समाहित कर लेने का यत्न किया गया है। एक प्रकार से जैन दर्शन की समूची सिद्धान्त–धारा का सार इन नव–सूत्रों में समावेश करने का ध्यान रखा गया है, क्योंकि जैन दर्शन प्रधानतः निवृत्ति मार्ग है और सांसारिकता से निवृत्ति में ही आत्मा का मोक्ष समाया हुआ है। संपूर्ण कर्मों की निवृत्ति के लिये की जाने वाले सम्यक् प्रवृत्ति से ही मोक्ष की निस्पति अवाप्ति होती है।

निवृत्ति का दृष्टिकोण अकस्मात् भी कोई प्रभावकारी निमित्त पाकर उभर सकता है, किन्तु सामान्यतया इसे उभारने के लिये सबसे पहले वैचारिक परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इसे परिवर्तन की संज्ञा इसलिये दी जा रही है कि इस जड़ संसार में रहते हुए, जड़ शरीर को धारण करते हुए तथा जड़ कर्मों से बंधे हुए होने के कारण मनुष्य के विचार सामान्यतः सांसारिक व्यवहार से ही सम्बद्ध होते हैं। वह इस विषय पर कम सोचता है कि जिन सांसारिक सुख सुविधाओं के पीछे वह भाग रहा है, वे उसे विकृत बनाती है, विशुद्ध नहीं। वह यह तो मुश्किल से ही सोचता है कि शुद्ध आत्मदृष्टि से यह शरीर भी उसका अपना नहीं है। वह तो शुद्ध रूप में केवल आत्मस्वरूपी है। अतः उसके वर्तमान विचारों में परिवर्तन आवश्यक है। यह आवश्यक है कि वह अपने आत्म–स्वरूप को मुख्यता दे तथा उसी को जांचने, परखने व सुधारने में अपनी प्राप्त शक्ति को नियोजित करे ताकि एक ओर वह अपने जीवन में उदात्त गुणों का विकास कर सके तो दूसरी ओर अपने श्रेष्ठ जीवन

के माध्यम से अन्य प्राणियों के दुःखों को दूर करके तथा उन्हें भी अपनी वास्तविक उन्नति का मार्ग सुझा करके लोकोपकार में निजत्त्व को विसर्जित कर सके अतः पहले के विचार छूटे और स्वभाव के विचार आगे पकड़ें—यही समीक्षण ध्यान का प्रारंभिक लक्ष्य है।

यह विचार—परिवर्तन आसान नहीं है। सम्यक् श्रद्धा के जागृत होने पर ही मिथ्या ज्ञान, सम्यक् ज्ञान के रूप में रूपान्तरित होता है। अज्ञान के स्थान पर सम्यक् ज्ञान तो उपजे ही, किन्तु, भावना का गहरा पुट भी वहाँ लगे ताकि सम्यक् श्रद्धा भी जागृत हो, क्योंकि सम्यक् ज्ञान एवं श्रद्धा के सद्भाव में सम्यक् चारित्र का पुरुषार्थ दिखाने में फिर यह पुरुष पीछे नहीं रहेगा। चिन्तन की दृष्टि से आज के पुरुष में पुरुषार्थ का संत्संकल्प बल पकड़े—यही इन नव—सूत्रों का मूल लक्ष्य है।

इन नव सूत्रों की यथार्थ विशेषता तो समीक्षण ध्यान साधक ही इन्हें अपने गहन चिन्तन के विषय बनाकर जान सकेंगे किन्तु परिचयात्मक दृष्टि से यह कह सकते हैं कि जड़ चेतन संयोग के संदर्भ में संसार एवं आत्मा की गतिविधियों का अध्ययन करते हुए जड़—चेतन संघर्ष के जितने बिन्दु हैं, वे इन नव सूत्रों में संकलित कर लिये गये हैं, ताकि यह चेतना अपनी जड़ग्रस्तता को बंधन रूप समझे तथा इस बंधन को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने का कठिन संकल्प ले। नव तत्त्वों की पृष्ठभूमि में चेतना—शक्ति इस रूप में भी अनुप्रेरित की गई है कि वह समता के सरल सद्भाव से न केवल अपने आत्मस्वरूप को ही ओतप्रोत बनाले, अपितु समता की ऐसी रसधारा प्रवाहित करे कि संसार की सम्पूर्ण आत्माएं 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दे दे। ये नव सूत्र गूढ़ चिन्तन के मोती हैं और प्रत्येक भव्य आत्मा को चिन्तन में निमज्जित बनाकर नये—नये मोती खोज लाने की भी ये नव तत्त्व अवश्य ही प्रेरणा देते हैं।

यह एक सत्य है कि वीतराग देवों ने आत्म विकास की महायात्रा के सम्बन्ध में स्वानुभव के साथ सम्पूर्ण ज्ञान पाकर विधि विधान प्रदान किया है कि कैसे यह महायात्रा मन, वचन एवं काया के सुव्यवस्थित योग—व्यापार के साथ संचालित की जाय तथा कैसे इस महायात्रा को संयम एवं तप की कठिन आराधना से सफल, सम्पूर्ण और सिद्ध बनाई जाय ? फिर भी वह गूढ़ ज्ञान आज के साधक के मन—मानस में भी स्पष्ट होना चाहिये। इन नव सूत्रों के निरूपण में यह लक्ष्य भी सामने रखा गया है कि वीतराग देवों का ज्ञान ही सरल शैली में साधक आत्मसात् कर ले।

नव–सूत्रों के नौ अध्यायों के पश्चात् 'समता की जय यात्रा' के शीर्षक से सम्पूर्ण विवेचन का उपसंहार किया गया है कि आत्म–समीक्षण की पूर्णाहुति समता की सदा एवं सर्वदा जय यात्रा में ही प्रकट होनी चाहिए ?

अध्याय दो

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 1 :

मैं चैतन्य देव हूँ।

मुझे सोचना है कि–

मैं कहाँ से आया हूँ, किसलिये आया हूँ ?

चार गति चौरासी लाख जीव योनियों में भटकते हुए मुझे समझना है कि दुर्लभ मानव जीवन आदि किस पुण्योदय से प्राप्त हुए हैं तथा जड़–चेतन संयोग, सुख–दुःखानुभव एवं संसार के संसरण का क्या रूपक हैं ? यह समझकर मैं मूर्च्छा–ममत्व को हटाऊँगा, राग–द्वेष और प्रमाद को मिटाऊँगा एवं अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मंगलमय बनाऊँगा।

पहला सूत्र

मैं चैतन्य देव हूँ। अनन्त चेतना शक्ति का स्वामी हूं। क्योंकि मेरी चेतना का स्रोत कभी भी विलुप्त नहीं होता, निरन्तर प्रवहमान रहता है।

प्रवाह वैसा ही जैसे कि एक पहाड़ी झरने का होता है। झरने का जल बराबर बहता रहता है—कभी बड़े वेग से तो कभी धीमी गति से। समतल भूमि आ जाय तो उसका विस्तार दिखाई देता है और संकड़ा चट्टानों भरा मार्ग हो तो उस झरने की जल–धारा पतली ही नहीं पड़ जाती, बल्कि कभी–कभी वह चट्टानों के बीच में अदृश्य भी हो जाती है। अपनी गति तथा विस्तार की न्यूनाधिकता के बाद भी वह जल–धारा कभी भी अस्तित्वहीन नहीं होती। वह निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और कभी न कभी नदी का रूप धारण करती ही है। कई झरने अथवा नदियाँ अपने मन्द प्रवाह के कारण भूमिगत हो जाती हैं यह दूसरी बात है। किन्तु अधिकांशतः ऐसी नदियाँ अपने प्रवाह की निरन्तरता बनाये रखकर एक न एक दिन महासागर में एकीभूत हो ही जाती हैं।

मेरी चेतना भी विकास की महायात्रा में निरन्तर प्रवाहित हो रही है और उस प्रवाह का सद्भाव बना हुआ है। कारण, प्रवहमानता मेरी चेतना का मूल लक्षण है। यदि प्रवाह ही समाप्त हो जाय तो चेतना चेतना ही नहीं रह जायेगी। प्रवाह न रहे तो झरने को या नदी को झरना या नदी ही कौन कहेगा ? सतत प्रवाह ही के कारण वह जल–धारा झरने अथवा नदी के रूप में मानी जाती है। ठीक ऐसा ही चेतना शक्ति का प्रवाह होता है। मेरी चेतना सतत रूप से प्रवाहित होती है, इसीलिये मैं जीव हूँ, आत्मा हूँ। यदि मूल में चेतना का अस्तित्व ही न रहे तो मैं जीवात्मा ही नहीं कहलाऊँगा।

मैं सतत प्रवहमान चेतना शक्ति का स्वामी हूँ इसी कारण मैं चैतन्य देव हूँ। यह चेतना ही है जिसके माध्यम से मुझे आत्मानुभूति होती है—नित नई जागृति प्रस्फुटित होती है। मैं सचेतन हूँ, प्राणधारी हूँ तभी तो प्राणी हूँ। जीव, आत्मा अथवा प्राणी में चैतन्य का सद्भाव एक अनिवार्य शर्त है। इसके अभाव में पदार्थ होंगे, प्राणी नहीं होंगे। पदार्थ होते हैं और सदैव जड़ ही रहते हैं। वे कभी भी प्राणधारी नहीं बनते। इसी प्रकार प्राणधारी कभी भी जड़ पदार्थ नहीं बनते।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि मैं चैतन्य देव हूँ। मूल रूप में जो चैतन्य स्वरूप मेरी आत्मा का है, वैसा ही स्वरूप इस संसार की प्रत्येक आत्मा का है–छोटे से छोटे तथा बडे बडे जीवधारी आत्मा का है। यही नहीं, मूल रूप में मेरा आत्म–स्वरूप ही सिद्धों, अरिहन्तों तथा महात्माओं के आत्म स्वरूप में प्रतिबिम्बित होता है। यह दूसरी बात है कि सभी आत्माएँ विकास के अनेकानेक स्तरों पर प्रतिष्ठित होती हैं और जो आत्माएँ विकास की पूर्णता को साध लेती हैं, वे सिद्धात्माएँ बन जाती हैं।

तभी तो मैं मानता हूँ कि विकास के किसी भी स्तर पर गति कर रही मेरी आत्मा की चैतन्य धारा में भी सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेने की क्षमता विद्यमान है। पहाडी झरने के प्रवाह की तरह ही मेरी चैतन्य धारा भी कभी सबल हो जाती है तो कभी दुर्बल बन जाती है। कभी–कभी तो ज्ञान दृष्टि से देखने वालों को मेरी पतनावस्था पर ऐसी अनुभूति होने लगती है कि जैसे मेरी चेतना एकदम विलुप्त हो गई हो, किन्तु वास्तव में ऐसा कभी होता नहीं। भाव–सरणियों के उत्थान के समय ऐसे क्षण भी प्रदीप्त हो उठते हैं जब मेरी चेतना शक्ति का प्रवाह अपने विकास की महायात्रा में अग्रगामी ही नहीं बन जाता है, अपितु अन्य कई जीवात्माओं को भी अपने प्रवाह का सम्बल प्रदान करके उन्हें भी प्रगतिशील बना देता है।

आह्वान अपनी चेतना का

मेरी चेतना शक्ति के प्रवाह की ऐसी गति, विगति अथवा प्रगति का क्रम क्या मेरे भीतर में भी निरन्तर चलता हुआ मेरे अनुभव में नहीं आता है ? क्या भावनाओं की ऊर्जा कभी मेरे अन्तरतम को भी आन्दोलित नहीं बना देती है ? मैं ऐसे कुसमय का भी अनुभव करता हूँ, जब मैं शून्य–सा हो जाता हूँ–हताशा जैसे मेरी जीवनी शक्ति को निगल–सी जाती है। तो इस प्रकार कभी मन्द तो कभी तीव्र कभी निम्न तो कभी ऊर्ध्व–मेरी चेतना का प्रवाह अटूट रूप से चलता ही रहता है। मेरा अमिट विश्वास है कि यह प्रवाह कभी न कभी नदी का रूप भी ग्रहण करेगा और एक न एक दिन अनन्त चेतना के महासागर सिद्ध स्वरूप में एकीभूत हो जायगा।

के विशाल वक्ष पर खिलते मैं उन रंगों को देखता, पल–पल फूटती हुई विविध ध्वनियों को मैं सुनता, भांति–भांति के स्वादों का मैं आस्वादन करता और नाना प्रकार की गंधों को मैं ग्रहण करता तो लगता है कि जैसे मेरे बाल्यकाल की संज्ञा बड़ी पैनी थी। बहुत कुछ जान लेने की उस में एक प्रखर उत्सुकता थी। बाहर के दृश्य भीतर में उभरते रहते थे। इन्द्रियों और मन की सक्रियता बढ़ती जाती थी। संसार का यह फैला हुआ क्षेत्र एवं आकाश का अपार अन्तराल मेरी चेतना को जागृत बनाते थे कि यहाँ जानने को बहुत है और उस ज्ञान को भीतर में उतार कर प्रकाश की किरणें खोज लेने की असीम गहराइयाँ भी यहाँ मौजूद हैं। तथ्यात्मक जगत् का ज्ञान एक सीढ़ी बनी तो उससे उपजने वाली भावनाओं ने मेरी चेतना को जो नया मोड़ दिया, वह मोड़ मुझे ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ते रहने की प्रेरणा देने लगा।

मैं देखता हूँ कि मुझे मेरे शारीरिक निर्वाह के लिये अमुक पदार्थों की आवश्यकता होती है जिन्हें मैं प्राप्त करने के लिये तत्पर बनता हूँ। किन्तु यह भी मैं देखता हूँ कि मेरे जैसे अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों को भी अपने–अपने शारीरिक निर्वाह के लिये वैसे ही पदार्थों की आवश्यकता होती है। और जब उन पदार्थों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य–मनुष्य के बीच में विचित्र अवस्थाओं को मैं देखता हूं तो कई प्रकार के दृश्य सामने आते हैं। कई बार और कई स्थानों पर मनुष्य समूह के पारस्परिक सहयोग के दर्शन होते हैं कि एक दूसरे को आवश्यक पदार्थों की पूर्ति में वह सहायता कर रहा है तो अनेक बार और अनेक स्थानों पर इस सम्बन्ध में हृदयहीन दृश्य भी दिखाई देते हैं। शक्तिशाली मनुष्य अपने से दुर्बल लोगों का दमन करते हैं तथा उनके आवश्यक पदार्थ छीन कर अपने पास जमा कर लेते हैं अथवा उन्हें आवश्यक पदार्थ प्राप्त ही नहीं करने देते हैं। इस तरह सामाजिक अन्याय का उदय होता है।

मैं जब एक सामाजिक प्राणी के नाते अन्याय तथा अत्याचार की इन बनती बिगड़ती झलकियों को देखता हूं तो उस तथ्यात्मकता के साथ–साथ अपने भीतर में एक प्रकार की भावात्मकता की अनुभूति भी महसूस करता हूँ। विचार उठता है कि ऐसी टकराहट और ऐसा संघर्ष क्यों ? क्यों कोई जरूरत से भी बहुत ज्यादा पा जाता है और क्यों किसी को उसकी जरूरत का अल्पांश भी नहीं मिलता ? भावनाओं के ऐसे बिन्दु पर कभी–कभी मेरा मन कांप उठता है, सहज कारुणिकता जाग जाती है और मैं अपना सब कुछ उन अभावग्रस्त लोगों को दे देने के लिये तत्पर हो जाता हूँ। मैं देखता हूँ

तब अपनी जागृति का एक नया ही क्षण अनुभव करती है।

मेरी चेतना शक्ति की ऐसी अभिव्यक्ति उन क्षणों में मुझे अपना एक अमूल्य धन लगने लगता है। मेरी अभिलाषा जागती है कि मैं अपने पास–पड़ौस का रोना–हंसना सुनूं, उन लोगों के दुःख–सुख को जानूं और उनके रोने के दुःख को कम, किंवा समाप्त कर सकूं, ऐसे प्रयास प्रारंभ करूं। यह अभिलाषा जितनी बलवती होती है, मेरा आन्तरिक आनन्द बढ़ता है और ऐसा महसूस होता है कि जैसे मेरे अपने भीतर में प्रकाश की चमचमाती रेखाएँ खिंच रही हों। तब मुझे समझ में आता है कि मेरी चेतना जाग रही है, आगे से आगे प्रवाहित हो रही है और उसके उस जागरण तथा प्रवाह में मुझे प्रतीत होता है कि 'मैं' जाग रहा हूँ और बढ़ रहा हूँ। मेरी चेतना का आह्वान तब अग्रगामिता के नये आयाम ग्रहण करता है।

'मैं' की आनन्ददायी अनुभूति

तथ्यों और भावनाओं के परिप्रेक्ष्य में मेरा यह 'मैं' जो जागता है, वह मुझे आनन्ददायी अनुभूति प्रदान करता है। वह आनन्द बाहर का सुखाभ्यास नहीं होता, बल्कि आन्तरिकता की गहराई से फूटने वाला सहज आत्मिक आह्लाद होता है। आनन्दानुभूति की उस वेला में मेरा 'मैं' उद्दंड या उद्धत नहीं होता, अपितु अपने मूल स्वरूप को पा लेने की अभिलाषा में अथक रूप से गतिशील होना चाहता है। लगता है कि उस समय मैं अपनी चेतना का सार्थक रीति से आह्वान कर रहा हूँ और मेरी वह चेतना 'मैं' के आदेश का अनुसरण करती हुई ऊर्ध्वगामी बनती जा रही है। तब मुझे अपनी आध्यात्मिक प्रगति का सुख अनुभव होने लगता है।

मुझे अपनी आत्मिक विगति का कटु अनुभव भी है। मैंने अपनी बढ़ती हुई जानकारी से संसार के विविध पदार्थों का ज्ञान किया तब मेरा विवेक अपनी इन्द्रियों तथा अपने मन पर नियंत्रण न रख सका। उस समय सुखदायी पदार्थों को पा लेने की अनन्त इच्छाएँ भीतर ही भीतर घुमड़ उठी कि मैं ही उनका उपयोग करूं। फिर उन इच्छाओं की पूर्ति की मृगतृष्णा ने मुझे कष्टों के मरुस्थलों में भटका दिया। मैं भ्रमजाल में बंधा भटकता रहा, तनाव को बढ़ाता रहा और अपने चेतना के प्रवाह को मन्द बनाता रहा। आकाश के समान अनन्त इच्छाओं का भार ढोते हुए कई बार बाह्य आघातों ने मेरे भीतर को आहत किया है और मेरे 'मैं' को बाहर के सारे खोखलेपन पर पैनी नजर डालने को मजबूर भी किया है। तब वे क्षण भी मेरी चेतना की जागृति के सार्थक क्षण सिद्ध हुए हैं क्योंकि उन्हीं क्षणों में मरुस्थल में भटकती हुई मेरी

आत्मा को दो बूंद अमृत मिला है जिसका रसास्वादन कर मेरे 'मैं' की अनुभूति परिपुष्ट हुई है।

उसी परिपुष्ट अनुभूति एवं नवागत आनन्द को लेकर मेरे मन में तब महत्त्वाकांक्षाओं का ज्वार भी जागा है। अपने ही स्वार्थों को पूरा करने हेतु दूसरों को कुचल डालने की दुष्कल्पनाएँ भी मैंने की थी तथा सांसारिक 'ऊँचापन' पाने की घृणित लालसाओं ने मेरे मन, वचन एवं कर्म को भी भटकाव की राह पर धकेला था, किन्तु यह मेरी चेतना के आह्वान तथा 'मैं' पन की आनन्दानुभूति का ही सुफल था कि मैं उन अंधेरी गलियों से कुछ बाहर निकल सका, जहाँ से मुझे थोड़ा खुला आकाश और खुली रोशनी दिखाई देने लगी। तब मैं अंधकार से ज्योति की ओर बढ़ने लगा।

इस प्रकार मैं अपने वर्तमान जीवन में ही सोया हूँ, गिरा हूँ, भटका हूँ। तब मेरी चेतना का प्रवाह अदृश्य भले हो गया हो किन्तु विलुप्त कभी नहीं हुआ। तभी तो वह पुनः पुनः प्रकट होता रहा है। मेरी चेतना पुनः पुनः जागती रही है और अपनी निरन्तरता का आभास देती रही है। सतत रूप से सतर्क रखने वाली ऐसी निरन्तर जागृति ही मुझे अपने सांसारिक स्वार्थों में फंसने से दूर खींचती रही है और सबके हितों को संवारने की नवानन्दमय प्रेरणा देती रही है। इसी जागृति ने मेरे अन्तःकरण को सद्विवेक के ऐसे सांचे में ढाला है कि वह सबके हित में ही अपने हित को जांचने–परखने लगा है।

यह सच है कि यदि ऐसी सर्वप्राणहिताकांक्षा मेरे मन में बलवती बन जाय एवं क्रियाशील हो जाय तो मेरा अटल विश्वास है कि मेरी आत्म विकास की लम्बी यात्रा भाव–सरणियों में ऊपर से ऊपर उत्थान पाती हुई अल्प समय में भी सम्पन्नता एवं पूर्णता को प्राप्त हो सकती है।

यह भटकाव अनादिकालीन है

वर्तमान जीवन में मेरी आत्मा जो सांसारिकता में इधर–उधर भटकती रहती है, वह भटकाव मात्र इसी जीवन का नहीं है, अपितु अनादिकालीन है।

यह 'मैं' वह मात्र ही नहीं हूँ, जो अभी बाहर से दिखाई दे रहा हूँ। बाह्य दृष्टि से वह तो मेरा वर्तमान शरीर मात्र है। अनादिकाल से मेरी आत्मा इस संसार में अनेकानेक शरीर धारण करती रही है एवं भव–भवान्तर में भ्रमण करती रही है। यह मानव शरीर मेरी आत्मा का वर्तमान निवास है। यह शरीर–निवास ही मेरी आत्मा की वास्तविकता का प्रतीक है।

आत्म–विकास का चरम स्थल मोक्ष होता है अतः जब तक मेरी आत्मा अपने चरम को नहीं पा लेती है तब तक आगे भी संसार में परिभ्रमण करती रहेगी। संसार का यह परिभ्रमण ही मेरी आत्मा का भटकाव है जो अनादिकाल से चल रहा है और मोक्ष प्राप्ति तक चलता रहेगा। जिस दिन मेरी आत्मा अपने समस्त कर्म बंधनों को सम्पूर्णतः विनष्ट कर लेगी और अपनी चेतना के प्रवाह को महासागर में एकीभूति करने की दिशा में तीव्र गति से मोड़ देगी, तब वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जायगी। फिर न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी। न भटकाव रहेगा, न जन्म–जन्मान्तर और न संसार–परिभ्रमण। मेरी आत्मा तब अनन्त ज्योतिमर्य रूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं सुख में अजर–अमर हो जायगी।

इस चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में अग्रगामी बनने के लिये मुझे इस सांसारिक भटकाव को गहराई से समझना होगा ताकि कारणों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा उनका निदान कर मैं अपना समाधान पा सकूं।

अनादिकाल से अन्य सभी सांसारिक आत्माओं की तरह मेरी आत्मा भी संसार की चार गतियों एवं चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाती हुई भटक रही है। मैंने इन सब गतियों तथा योनियों में बारम्बार जन्म लिये हैं, वहाँ की यातनाएँ तथा मूर्छाएं भोगी हैं तथा कई बार चेतना जागृति के फलस्वरूप आत्म विकास की ऊँचाइयाँ भी साधी हैं।

'मैं' ने यानी कि मेरी आत्मा ने वर्तमान जीवन से पहले नारकीय जीवन की लोमहर्षक यातनाएँ झेली हैं, तिर्यच जीवन के क्रूर कष्टों को सहा है तो देवलोकों के ऐश्वर्यमय जीवन के आनन्द भी उठाये हैं। किन्तु मैं अपने लिये सन्तोष का विषय यही मानता हूँ कि इस ऊँचे–नीचे परिभ्रमण के दौरान मेरी चेतना का दीपक बराबर जलता रहा जो घटाटोप अंधकार के समय में भी मुझे रोशनी की राह दिखाता रहा।

मैं अपनी स्मृति को पीछे लौटाता हूं तो देखता हूं कि मैंने बहुत प्राणियों की हिंसा हो इस प्रकार तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक महारंभ की प्रवृत्ति की, वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्छा रखकर महापरिग्रह सेवन किया, पंचेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा करते हुए पंचेन्द्रिय वध किया तथा मांसाहार करने में रस लिया, जिसके कुफल में मुझे नरकायु का बंध हुआ। ऐसा बंध कई बार हुआ और मैंने घम्मा, वंशा, सीला, अंजना, रिट्ठा, मघा और माघवई–इन सातों नरकों की भीषण यातनाएँ सहन की।

मेरा रोम रोम आज भी खड़ा हो जाता है जब मुझे अपने अज्ञानतायुक्त नारकीय जीवन में मिले अपार कष्ट याद आते हैं। हम नारकीयों का वैक्रिय शरीर होता था जो भीषण प्रहारों का दुःख तो महसूस करता था किन्तु फिर से यथावत् हो जाता था। अधिकांशतः हम नारकी के जीव ही भयंकर रूप बना कर एक दूसरे को त्रास देते थे–गदा, मुद्गर वगैरह शस्त्र बना कर एक दूसरे पर आक्रमण करते थे। बिच्छू, सांप आदि बन कर एक दूसरे को काटते थे और नुकीले कीड़े बनकर एक दूसरे के शरीर में घुस कर उसे क्षत–विक्षत कर डालते थे। अत्यन्त ऊष्ण अथवा अत्यन्त शीत होने के कारण क्षेत्रजन्य वेदना अलग होती थी तो पहली तीन नरकों में परमाधार्मिक देवता भी कठिन यातनाएँ देते थे।

नारकीय यातनाओं का वर्णन करते हुए मेरी वाचा में प्रकम्पन पैदा होता है। क्षेत्रजन्य ऊष्णता एवं शीतलता की वेदना क्रमशः एक से आगे की नरकों में तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती जाती थी। मध्य लोक में ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न के समय जब आकाश में कोई बादल न हो, वायु बिल्कुल बन्द हो और सूर्य प्रचंड रूप से तप रहा हो, उस समय पित्त प्रकृति वाला व्यक्ति जैसी ऊष्ण वेदना का अनुभव करता है, ऊष्ण वेदना वाले नरकों में उससे भी अनन्तगुणी वेदना होती थी उस वेदना की महसूसगिरी यह है कि अगर मुझे नरक से निकाल कर मर्त्यलोक में बड़ी तेजी से जलते हुए खैर की लकड़ी के अंगारों में डाल दिया जाता तो मैं शीतल जल से स्नान करने के समान अत्यन्त ही सुख का अनुभव करता और उन अंगारों पर मुझे नींद भी आ जाती। इसी प्रकार शीत के प्रकोप की महसूसगिरी भी ऐसी थी कि जैसे मध्य लोक में पौष या माघ की मध्यरात्रि में आकाश के मेघशून्य होने पर जिस समय शरीर को बुरी तरह से कम्पायमान करने वाली शीत वायु चल रही हो, हिमालय गिरि के बर्फीले शिखर पर बैठा हुआ अग्नि, मकान और वस्त्रादि शीत निवारण के सभी साधनों से हीन व्यक्ति जैसी भीषण शीत वेदना का अनुभव करता है उससे भी अनन्तगुणी वेदना शीतप्रधान नरकों में होती थी। उस वेदना का घनत्व यह है कि यदि वैसी नरक के जीव को उपरोक्त परिस्थितियों में हिमालय के बर्फीले शिखर पर खड़ा कर दिया जाय तो उसे सुख मिले तथा वहाँ उसे चैन की नींद भी आ जाय। मैंने इनके अलावा भूख, प्यास, खुजली, ज्वर, दाह, भय, शोक आदि के ऐसे दारुण दुःख भोगे हैं कि जिनकी याद मात्र से सिहरन फैल जाती है। मुझे याद है कि क्षुधा इतनी सताती जो जैसे संसार के सारे पदार्थ खा लेने के बाद भी शान्त न हो। प्यास

के मारे कंठ, ओष्ठ, तालु और जीभ वगैरह हर वक्त सूखे ही रहते और मन करता कि सभी समुद्रों का सारा पानी भी पी जाऊं। खुजली छुरी से खुजलाने पर भी नहीं मिटती। उस समय मुझे प्राप्त ज्ञान भी मेरे घोर दुःख का ही कारण बनता क्योंकि सभी दिशाओं से आते हुए दुःखों के कारण अग्रिम रूप से ही जान लेने से मारे भय के कंपकंपी छूटती रहती थी।

परमाधार्मिक देवों द्वारा दी गई यातनाएँ भी बड़ी विचित्र होती थीं। कभी वे तपा हुआ शीशा पिलाते थे तो कभी अंगारों से लाल बनी लौहमय स्त्री से आलिंगन करवाते थे। कभी कूट शाल्मली वृक्ष के नीचे बिठा देते जिससे गिरने वाले तलवार जैसे पत्ते मेरे अंग–अंग को छेद डालते। हमारे शरीर लोहे के हथौड़ों से इस तरह कूटे जाते थे कि उस की एक बार तो लुगदी–सी–बन जाती थी। वसोले से शरीर छीले जाते थे। वे देव हम नारकीयों को भाले में उछाल–उछाल कर पिरोते थे, भाड़ में भूनते थे, कोल्हू में पेलते थे, करौती से चीरते थे, घोर तपी हुई बालू पर फैंक देते थे, वैतरणी नदी में डुबो देते थे और इसी तरह की अनेकानेक यातनाएँ देते थे।

मैं अपने नारकीय जीवन का एक अनुभव और बताना चाहता हूँ। नरक के जीवों में भी दोनों प्रकार के जीव होते हैं–सम्यक् दृष्टि एवं मिथ्या दृष्टि। सम्यक् दृष्टि जीव दूसरों द्वारा दी जाने वाली वेदना का अनुभव करते हुए सोचते थे कि हमने पिछले जन्मों में घोर पाप कर्म किये थे जिनका कुफल हम भोग रहे हैं, अतः वे उन यातनाओं को सम्यक् प्रकार से सहन करते थे तथा अपनी तरफ से दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करते थे। इस रूप में शान्ति से पूर्व कर्म–योग के साथ वे नये कर्मबंध से बचना चाहते थे। दूसरी ओर मिथ्या–दृष्टि जीव क्रोधादि कषायो से अभिभूत होकर अपने पूर्व कर्मबंधन को न समझते हुए शिकारी कुत्तों की तरह आपस में उग्र हिंसक रूप से लड़ते रहते थे तथा तरह–तरह की घातक विक्रियाएँ करते रहते थे। इस तरह नारकी का जीवन अत्यन्त दुःखप्रद अवस्थाओं से गुजरा ! जन्म जन्मान्तरों के इसी क्रम में तिर्यंच गति के क्रूर कष्टों का लेखा–जोखा भी मुझे भुगतना पड़ा है। तिर्यंचगति के आयुबंध के कारण थे कि मैंने अज्ञानता से द्विमुखी मायावी आचरण रखा, ढोंग रचकर दूसरों को ठगने की चेष्टाएँ कीं, झूठ बोलने में सिद्धहस्तता पाई और झूठे तोल व माप से सबको धोखा दिया। तिर्यंच गति में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की स्थावर जीव योनियों से लेकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय की जलचर, स्थलचर, नभचर व उरपरिसर्प तथा भुजपरिसर्प योनियों में भी मैंने जन्म लिये

तथा विचित्र परिस्थितियों के अनुभव किये। इन जन्मों में भी मैंने अतीव क्रूर कष्ट सहे एवं अचिंत्य वेदनाएँ भोगीं।

संसार परिभ्रमण के चक्र में ही 'मैं' जब–जब पाप पंक से न्यूनाधिक अंशों में उबरता और सत्कृत्यों से पुण्यार्जन करता, तब मनुष्य गति में भी मेरा परिभ्रमण कई बार हुआ तो कई बार देवलोकों के विलासमय आनन्द–साधनों का भी उपभोग किया। यह स्वर्ग–सुख मुझे प्राप्त हुए क्योंकि मैंने सराग संयम का पालन किया, देश–विरति श्रावक धर्म की साधना की, अनिच्छापूर्वक कर्मो की निर्जरा की और अविवेकपूर्ण बालभाव से कायाक्लेश आदि का तप आराधा। मैंने जब देव–जन्म पाया तो मेरा रूप स्वरूप सुदर्शनीय था। मेरी पुष्पमाला कभी नहीं कुम्हलाती थी, नेत्रों के पलक नहीं गिरते थे, देह सदा निर्मल रहती थी और वह भूमि से चार अंगुल ऊपर उठी हुई चलती थी। ये लक्षण मेरे देवत्व के पहचान रूप थे।

देवलोकों का समूचा दिव्य वातावरण मेरे लिये काम भोगों का इतना उद्दीपक था कि मैं इच्छा करते हुए भी मनुष्य लोक में नहीं जा पाता था। मर्त्यलोक की अमनोज्ञता भी मुझे जाने से रोकती थी। उत्पत्ति के तत्काल बाद दिव्य काम भोगों में आसक्ति न करते हुए अपने आचार्य, उपाध्याय आदि को वन्दन करने, ज्ञानियों व तपस्वियों के दर्शन करने अथवा अपने निकट सम्बन्धियों को अपनी नव प्राप्त ऋद्धि–सिद्धि दिखाने के निमित्त से मैं कई बार देवलोक से मनुष्य लोक में पहुँचा भी हूं किन्तु अधिक बार देवलोकों के दिव्य काम भोगों में ही रमता रहा। इस प्रकार देवलोकों के सुखोपभोगों का मैंने कई बार रसास्वादन किया।

किन्तु देव रूप में एक तथ्य मेरे लिये सदैव विचारणीय रहा कि उस जीवन में आत्मविकास की व्रतनिष्ठा कोई भी क्रिया आचरित नहीं की जा सकती थी। केवल शुभ भावनाएँ भायी जा सकती थी पर त्याग–प्रत्याख्यान के नाम पर शून्य ही रहता था। मैं भी इस शून्य का अनुभव करते हुए मनुष्य लोक में उत्पन्न होने की कामना किया करता था।

आज मुझे जो यह मनुष्य जीवन प्राप्त हुआ है उसके लिये मैंने पहले अपनी प्रकृति को भद्र बनाई थी, स्वभाव को विनय से भरा था, दया और अनुकम्पा के परिणामों को उच्चता दी थी एवं मत्सर, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से मुक्त रहा था। फलस्वरूप यह मनुष्य जन्म मिला–ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म जो आत्म विकास की उच्चतम साधना का एक मात्र क्षेत्र है। संसार परिभ्रमण को घटाने और समाप्त करने का सफल पुरुषार्थ मैं जानता हूँ कि मेरा इसी जन्म

में संभव है।

मुझे अपने गुरुजनों तथा आगमों से ज्ञान मिला है कि मनुष्य जन्म को शास्त्र श्रवण, सुश्रद्धा तथा शुभ पराक्रम के साथ आत्म विकास का अवलम्बन बनाया जाना चाहिये। आज मनुष्य तन में निवास करती हुई मेरी आत्मा दुर्लभ प्राप्तियों के सदुपयोग में प्रयत्नरत बने एवं बनी रहे इस ओर मैं पूर्ण रूप से सचेष्ट बन जाना चाहता हूँ ताकि मेरे 'मैं' का स्वरूप विकास पाकर निरन्तर उज्ज्वलता की दिशा में गतिशील बन सके।

यह जन्म–जन्मान्तर का क्रम जैसे संसार परिभ्रमण की न टूटने वाली श्रृंखला है, जिसे तोड़ देने के पक्के उपाय करने की क्षमता मुझे इस मनुष्य जीवन में प्राप्त है और जो कठिन लक्ष्य शक्य होता है उसे पाने के लिये कठोर साधना तो आवश्यक होगी ही।

आखिर यह संसार है क्या ?

अनादिकाल से जहाँ मेरी आत्मा निरन्तर परिभ्रमण करती हुई आ रही है, इस मनुष्य जन्म में प्राप्त अपने इन्द्रिय तथा मन के विकास के परिप्रेक्ष्य में मेरे लिये यह जानना नितान्त आवश्यक होगा कि आखिर यह संसार है क्या ? इसका क्या स्वरूप है ? इसके प्रांगण में कौन–कौन से तत्त्व संचरण करते हैं और वे अपना क्या प्रभाव छोड़ते हैं ? तभी यह जाना जा सकेगा कि संसार में जारी अपनी आत्मा के इस परिभ्रमण को समाप्त कर देने के लक्ष्य को सामने रख कर मैं इस जीवन में क्या–क्या करूं ?

अनेकानेक भव–भवान्तरों के प्रत्यक्ष अनुभव से मेरी चैतन्य शक्ति ने संसार के वास्तविक स्वरूप को जाना है तथा अनेक ज्ञानी आत्माओं के कथन से उसे पहिचाना भी है। किन्तु यह ज्ञान और पहिचान कभी सजग भी रही तो कभी विस्मृति के गर्त में डूबती भी रही। अपने विकास की पूर्णता पर न पहुँच पाने तक चेतना के साथ ऐसा ही परिवर्तन होता रहता है और यही वस्तुतः सांसारिकता है।

द्रव्य संसार (लोक) का स्वरूप क्या ? छोटी–सी परिभाषा है द्रव्यों का समूह रूप है। फिर प्रश्न होगा कि द्रव्य क्या ? जो गुण और पर्याय पर आधारित हो वह द्रव्य। गुणपर्यायवद् द्रव्यम्–तत्त्वार्थ सूत्र 5/37। गुण जो सदा एक सा रहे तथा पर्याय वह जो सदा बदलती रहे। यों द्रव्य छः होते हैं किन्तु मुख्य हैं जीव और अजीव। अजीव में शेष पांच द्रव्यों का समावेश हो जाता है। जीव का दूसरा नाम आत्मा है और आत्मा के सिवाय सभी अजीव हैं।

जैसे मैं हूँ। यह मैं जो हूँ, वह आत्मा है किन्तु मेरी आत्मा मुक्त नहीं है, शरीरधारी है। अतः यह शरीर जो है, वह जड़ पुद्‌गलों से निर्मित है। इस प्रकार मेरे वर्तमान जीवन का अस्तित्व है मेरी आत्मा एवं मेरे शरीर के संयोग से है। यह आत्मा एवं शरीर का संयोग ही संसार है। इसके सिवाय भी जितनी दृश्यावलियाँ हैं, वे सब जड़ रूप हैं। यों कह सकते हैं कि इन चर्मचक्षुओं से जो कुछ भी दिखाई देता है, वे सब जड़ पदार्थ हैं। मुख्यतः आत्माओं एवं शरीरों का संयोग ही संसार की सारी हलचलों का मूल है। इन सारी हलचलों से संसरित होता हुआ ही यह संसार है।

अतः मेरी आत्मा और मेरी देह का संयोग ही मेरा संसार है। दोनों के संयुक्त होने से सम्पूर्ण क्रियाएं संचालित होती हैं, इन्हीं क्रियाओं की शुभता एवं अशुभता के आधार पर पुण्य एवं पाप कर्मों का बंधन होता है तथा इसी कर्मबंधन के फलस्वरूप जन्म–मरण का क्रम चलता है। मैं इसी सांसारिकता के चक्र में भव–भवान्तर में भ्रमण कर रहा हूँ तथा इसी प्रकार समस्त संसारी जीव भी संसार–परिभ्रमण कर रहे हैं। जब समग्र कर्म–बंधनों को समाप्त कर लेने पर मेरी आत्मा सूक्ष्म स्थूल देह के बंधन से मुक्त हो जायगी तब वह सिद्ध हो जायेगी और सदा–सदा के लिये सिद्ध ही रहेगी। वह पुनः कभी भी संसार में अवतरित नहीं होगी। आत्मा का अपने मुक्त एवं शुद्ध स्वरूप में पहुँच जाना ही उसका मोक्ष होता है। आत्मा एवं शरीर संयुक्त हैं तब तक ही संसार है।

संसार में रहते हुए मेरी आत्मा एवं मेरी देह के संयोग को गति, स्थिति, अवकाश एवं व्यतीति के सम्बल की आवश्यकता होती है। जीव एवं अजीव पुद्‌गल द्रव्यों के सिवाय शेष चार द्रव्य–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल ये चारों उपरोक्त सम्बल उपलब्ध कराते हैं। मैं गति करता हूँ तो उसमें धर्मास्तिकाय का सम्बल मिलता है, अधर्मास्ति काय के योग से ठहरने की स्थिति बनती है। इस अवकाश में समस्त क्रियाएँ आकाशस्तिकाय की सहायता से चलती हैं एवं काल द्रव्य व्यतीत करने का कार्य करता है। यों सभी द्रव्यों में जीव प्रमुख है जो जड़ कर्मो से संलग्न बनकर संसार में विविध प्रकार की रचनाओं का निर्माता बनता है। कर्मो की संलग्नता से जीव विभिन्न प्रकार के शरीरों को धारण करने वाला बनता है और शरीर दस प्रकार के प्राणों के बल पर टिके रहते हैं। इसलिये जीव को प्राणधारी या प्राणी भी कहते हैं।

मैं प्राणधारी हूँ इसलिये अपने दस प्राणों की सहायता से अनुभव कर सकता हूँ कि मैं प्राणधारी क्यों कहलाता हूँ ? सीधी सी बात है कि प्राणों को

धारण करने से मैं प्राणधारी हूँ। तो प्रश्न उठता है कि ये प्राण कितने हैं और कौनसे हैं ? मुझ द्वार धारण किये गये द्रव्य प्राणों की संख्या दस है। और भाव प्राण मेरी आन्तरिक शक्ति रूप ज्ञान, दर्शन, सुख और सत्ता रूप होते हैं। मैं सुनता हूँ, यह मेरा श्रोतेन्द्रिय प्राण है। इसी प्रकार मैं देखता हूँ, मैं सूंघता हूँ, मैं चखता हूँ और मैं स्पर्शानुभव करता हूँ जो क्रमशः चक्षुरीन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण तथा स्पशेन्द्रिय प्राण कहलाते हैं। फिर मेरे मन, वचन एवं काया रूप तीन प्राण श्वासोश्वास एवं आयुष्य बल रूप दो प्राण और होते हैं। चैतन्य लक्षण से युक्त जीव तथा नाशवान स्वभावी अजीव के संसारी संयोग की ये प्राण ही कड़ियाँ हैं, जिनसे ऐसा चेतन, इस संसार में चित्र–विचित्र दृश्यों का चितेरा, विविध प्रकार के निर्माणों का निर्माता तथा ज्ञान–विज्ञान के गहन अनुसंधानों का अध्येता बनता है।

यह संसार एक रंगमंच है और मैं तथा मेरे जैसे अन्य जीव इस रंगमंच के कलाकार हैं। कर्म से प्रेरित होकर विविधजन्मों में नाना प्रकार के शरीर धारण करता हूँ। मैं ही कभी पिता होता हूँ, तो कभी भाई, पुत्र और पौत्र भी हो जाता हूँ। कभी माता बनकर स्त्री और पुत्री भी हो जाता हूँ। यह संसार की विचित्रता है कि स्वामी दास बन जाता है और दास स्वामी। एक ही जन्म में राजा से रंक और रंक से राजा बन जाता हूँ। मैं संसार के सभी क्षेत्रों में रहा हूँ, सभी जातियों, कुलों व योनियों में मैंने जन्म लिया है और प्रत्येक जीव के साथ किसी न किसी रूप में एवं कभी न कभी नाता जोड़ा है किन्तु अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी मुझे इस संसार में विश्राम नहीं मिला है।

मैंने इस संसार में कर्मवश परिभ्रमण करते हुए लोकाकाश के एक–एक प्रदेश को अनन्ती बार व्याप्त किया किन्तु उसका अन्त नहीं आया। नरक गति में जाकर मैंने वहाँ होने वाली शीत, ऊष्ण एवं अन्य प्रकार की वेदनाएँ सहन कीं, तिर्यञ्चगति में भूख, प्यास, रोग, वध, बंधन, ताड़न, भारारोपण आदि दुःख प्रत्यक्ष देखे तथा विविध सुखों की सामग्री होते हुए भी देव जन्म में मैं शोक, भय, ईर्ष्या आदि दुःखों से दुखित रहा। मनुष्य गति में तो मैं वर्तमान में हूँ ही। गर्भ से लेकर वृद्धावस्था एवं मृत्यु तक कितने दुःख भोगने पड़ते हैं–यह मैं स्वयं अनुभव करता हूँ, समझता हूँ और देखता हूँ। चारों ओर दृष्टि फैलाता हूँ तो मुझे दिखाई देता है कि कोई रोग पीड़ित है, कोई धन, जन के अभाव में चिन्तित है, कोई स्त्री पुत्र के विरह से संतप्त है और कोई दारिद्रय दुःख से दबा हुआ है। मैं चारों ओर दुःख ही दुःख देखता हूँ कि कहीं युद्ध चल रहा है तो कहीं साम्प्रदायिक या जातिवादी संघर्ष हो रहा है। कहीं अनावृष्टि से

अकाल का हाहाकार है तो कहीं अतिवृष्टि से जल प्लावन की त्राहि–त्राहि मची हुई है। घर–घर कलह का अखाड़ा बना हुआ है, स्वार्थवश भाई अपने ही भाई का खून पी रहा है और माता–पिता व सन्तान के बीच में भी कटुता चल रही है। सारा संसार दुःख और द्वन्द्वों से भरा हुआ है, कहीं भी शान्ति के दर्शन नहीं होते।

संसार के इन्हीं दुःख द्वन्दों के बीच जब मैं गहराई से चिन्तन करता हूं तो मुझे लगता है कि सामाजिक प्राणी होने के नाते अभावों, पीड़ाओं और विषमताओं से त्रस्त अपने साथियों एवं समस्त प्राणियों के प्रति भी मेरे कुछ कर्त्तव्य हैं। मैं अपना आत्म योग देकर भी दूसरों के अभावों, पीड़ाओं विषमताओं को कम कर सकूं तो उस दिशा में मुझे निःस्वार्थ भाव से कार्य करना चाहिये। यह परोपकार की निष्ठा और क्रिया ही मुझे मेरे आत्म–विकास से जोड़ने वाली बनती है क्योंकि स्वार्थ छूटता है तभी परोपकार हो सकता है और परोपकार की वृत्ति बनती है तो अपनी आन्तरिकता में एक अनूठे जागरण का आनन्द फूटता है। यही आनन्द जब बढ़ता जाता है तो मुझे परमानन्द में साक्षात्कार करने की ओर आगे बढ़ा सकता है।

संसार के संसरण में 'मैं'

यों देखें तो इस संसार को बनाने वाला 'मैं' हूँ और मेरे जैसी आत्माएँ है। किन्तु मेरे तथा सभी संसारी आत्माओं के कर्मो की विडम्बना यह है कि हम इस संसार से बंध गये हैं। ये आत्माएँ ही कर्मो से लिप्त होकर संसारी बनी हुई हैं जिनके विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। समस्त संसारी आत्माओं को इन दो–दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं–त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, संज्ञी और असंज्ञी, अल्प संसारी और अनन्त संसारी, सुलभ बोधि और दुर्लभ बोधि, कृष्ण पक्षी और शुक्लपक्षी, भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक एवं आहारक और अनाहारक। वैसे संसारी जीवों की चार श्रेणियाँ मानी गई है– (1) प्राणी–विकलेन्द्रिय याने दो, तीन व चार इन्द्रियों वाले जीव (2) भूत–वनस्पति काया के जीव (3) जीव–पंचेन्द्रिय प्राणी तथा (4) सत्त्व–पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के स्थावर जीव। इस ज्ञान के कारण जीव को विज्ञ, तो सुख दुःख की संवेदना के कारण उसे वेद भी कहते हैं। ये संसारी आत्माएँ विभिन्न श्रेणियों के रूपों में ढलती, बनती, बिगड़ती, उठती गिरती नित नूतन रचनाएँ करती रहती हैं और इस संसार को अपने संसरण से संसार बनाती रहती हैं।

मै आज संसारी जीव हूँ और सांसारिकता से जुड़ा हुआ हूँ। किन्तु जब अपनी साधना के बल पर मैं इस संसार से मुक्त हो जाऊँगा तब सिद्ध बन जाऊंगा। तो समस्त जीवों के मोटे तौर पर दो वर्ग मान लीजिये–संसारी और सिद्ध। सिद्ध होने का अर्थ है संसार से मुक्त हो जाना–संसार की संसरण प्रक्रिया से सर्वथा सदा के लिये विलग हो जाना। आत्मा मुक्त होती है संसार से, इस संसार से–जो चेतन जड़ संयोग पर टिका हुआ है। अतः मुक्ति का मतलब है–चेतन का जड़ से सभी प्रकार के सम्बन्धों को सदा–सदा के लिये तोड़ देना। जब तक चेतन–जड़ के साथ सम्बन्धित रहता है तब तक ही उसके लिये यह संसार है और उस दिशा में किये जाने वाले कर्मो के फलाफल के अनुसार उसे इस संसार में भ्रमण करना ही होता है।

मैं चैतन्य देव हूँ। मेरी आत्मा अनन्त चेतना शक्ति की धारक है किन्तु जड़ तत्त्वों के साथ बंधी हुई है–शरीर में स्थित है। जड़–चेतन संगम स्वरूप यह शरीर अपने मन, वचन, काया के जिस प्रकार के यौगिक व्यापार में विचरता है तथा जिस प्रकार तज्जन्य विचार और आचार से सक्रिय होता है, उसी सक्रियता के परिणामस्वरूप शुभ अथवा अशुभ कर्मो से यह आत्मा बद्ध होती है। आत्मा का शरीर मृत्यु के उपरान्त बदल जाता है किन्तु बिना अपना फलभोग दिये निकाचित कर्म नहीं बदलते। वे कर्म आत्मा से जुड़े रहकर इसके शरीर की अवस्था में भी याने कि भावी जीवन में भी अपना शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं। कर्म और फल का चक्र चलता रहता है जब तक कि कार्य–कारण रूप इन दोनों को पूर्णतः समाप्त नहीं कर दिया जाता। अतः कर्म के चक्र में मैं संसार बनाता हूँ। कर्म चक्र की समाप्ति के साथ ही जड़ चेतन संयोग टूट जायगा तथा 'मैं' संसार से भी नाता तोड़ दूंगा। तब 'मैं' शुद्ध स्वरूपी सिद्ध बन जाऊंगा।

इसलिये 'मैं' ही संसार हूँ और जब मैं ही अपने आत्म पुरुषार्थ की उच्चतम सफलता साध लूंगा तो समझिये कि 'मैं' ही सिद्ध हो जाऊंगा।

इस प्रकार इस संसार के संसरण में सारी लीला फैली हुई है मेरी बद्ध आत्मा की तथा उन अनन्त बद्ध आत्माओं की जो जब तक मुक्त नहीं हो जाती, इस संसार में भटकती रहने को विवश हैं। संसार के संसरण का इस रूप में अनन्त–अनन्त आत्माओं के साथ 'मैं' भी एक कारण भूत हूं। क्योंकि 'मैं' अपने मूल स्वरूप की विकृति के साथ सांसारिक जड़ता से ग्रस्त हूँ एक मैल–पुते आईने की तरह निष्प्रभ होकर। मेरी स्व–चेतना की प्रभा कभी किन्हीं गुरु की कृपा से उभरी भी तो मूल पर चढ़ी विकृति की परतों को जानकर

भी स्वच्छ कर लेने में मैं विफल रहा। यह अवश्य है कि इस विफलता ने मेरी आत्मा को कौंचा है और प्रेरणा दी है कि वह और अधिक पराक्रम दिखावे, अधिक पुरुषार्थ करे और अधिक तीव्र गति से मुक्ति की ओर आगे बढ़े।

इसी प्रेरणा ने मेरे 'मैं' को जमाया है यह जानने के लिए कि वास्तव में वह है कौन ? उसका मूल स्वरूप क्या है और उसका वर्तमान धूलि-धूसरित अपरूप क्यों बन गया है ? संसार के संसरण में यह 'मैं' कितना विवश बन गया है और क्यों ? किन्तु यदि यह 'मैं' सचेतन होकर जाग उठे तो वह किस प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त शक्ति का वाहक बन सकता है ? तब उसका मूल स्वरूप कितना परमोज्ज्वल भव्य एवं जाज्वल्यमान हो उठेगा ?

मेरा 'मैं' ही अपना वास्तविक परिचय अपने को दूं और उसे पूर्ण गहनता से हृदयंगम करूं-यह परमावश्यक है। मैं अभी संसारी हूँ, कर्मों से लिप्त हूँ, वरन् मैं भी 'सिद्धों जैसा जीव' हूँ-यह जानता हूँ तथा अपनी क्षमता को पहिचानता हूँ कि 'जीव सोई सिद्ध होय।' मूल में मेरा आत्म स्वरूप परम विशुद्ध है किन्तु मेरा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त सुख कर्म रूपी काले बादलों से ढका हुआ है। अभी मेरी ये आत्म शक्तियाँ भले ढकी हुई हैं किन्तु यह सुनिश्चित है कि इनके अस्तित्त्व का लोप नहीं है। जब भी मेरा सत्पुरुषार्थ पूर्णतः प्रतिफलित हो जायगा। ये सम्पूर्ण शक्तियाँ अपनी पूरी प्रभा के साथ मेरे आत्म-स्वरूप में प्रकाशमान हो उठेंगी। वैसे वर्तमान में 'मैं' द्रव्य रूप हूँ क्योंकि गुण और पर्याय का धारक हूँ, कषाय रूप हूँ क्योंकि काषायिक वृत्तियों से ग्रस्त होता रहता हूँ। योग रूप हूँ क्योंकि मन, वचन तथा काया के योगों का व्यापार मेरे साथ निरन्तर चलता रहता है। 'मैं' उपयोग रूप हूँ, क्योंकि उपयोग में मेरा मूल लक्षण है। 'मैं' ज्ञान रूप हूँ, दर्शन रूप हूँ, चारित्र्य रूप हूँ एवं वीर्य रूप हूँ क्योंकि अपने ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की उच्च कोटि की साधना को सफल बनाकर मैं अनन्त वीर्य का धारक हो सकता हूँ। मेरी आत्मा के ये आठों प्रकार उसके मूल एवं वर्तमान स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। सभी संसारी आत्माओं की तरह द्रव्य, वीर्य, ज्ञान, दर्शन और उपयोग प्रत्येक समय में मेरे भीतर विद्यमान रहते हैं। कषाय तब विद्यमान रहती है, जब मेरी आत्मा सकषायी होती है और योग भी तब जब वह सयोगी होती है। आत्मा को सम्यक्-दृष्टि प्राप्त होने पर ज्ञान की सुलभता होती है तो सर्वविरति मुनियों को चारित्र्य की प्राप्ति। समुच्चय में कहा जा सकता है कि मेरी ही तरह सभी संसारी आत्माओं में ये आठ प्रकार देखे जा सकते हैं।

संसार के संसरण एवं संचरण में अपनी इतनी सारी प्रछन्न शक्तियों के बावजूद मेरा 'मैं' अत्यन्त विचित्र है क्योंकि वह अपने आप से उतना ही विस्मृत भी है। 'मैं' जब स्व–तत्त्व को भूलकर आत्म विस्मृत बन जाता है, तब उसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि पर तत्त्वों की गहरी उलझन मेरे आत्म स्वरूप पर छाई हुई है जो उसके गुण–विकास को अवरुद्ध कर देती है। मैं अपने चारों ओर दृश्य पदार्थों को देखता हूँ और उनमें अपने सुख को खोजता हूँ तो मुझे भ्रमपूर्ण यही विश्वास होता है कि उन पदार्थों में ही मेरा सर्व सुख समाया हुआ है। मैं तब अपने साथियों की व्यथा तथा सर्वहित को विसार कर अपने ही स्वार्थों के तंग घेरों में बंद हो जाता हूं। राग और द्वेष के उतार चढ़ाव मेरे भीतर की शुभता को ढक देते हैं। उन वृत्तियों और प्रवृत्तियों से घिर कर मैं राक्षस बन जाता हूं, समस्त सुखदायी पदार्थों को अपने और अपनों ही के लिये संचित करना चाहता हूँ। उन पदार्थों को दूसरों से छीनता हूँ और सबको अपने नियंत्रण में बंद करके दूसरों के कष्टदायक अभावों पर अट्टहास करता हूं। किन्तु मैं देखता हूँ कि मैं ही नहीं, अन्य कई मनुष्य भी मेरी ही तरह ऐसी राक्षसी वृत्ति में उलझ रहे हैं। और इस तरह कटु संघर्ष चलता रहता है—पारस्परिक सम्बन्धों में घोर तनाव फैलता रहता है। पदार्थों की प्राप्ति के लिये उभरती और बढ़ती हुई यह आपाधापी आपसी अन्याय और अत्याचार में जब बदल जाती है तब परिस्थितियाँ असह्य हो उठती हैं। दमन और शोषण के तले चारों ओर हाहाकार मच जाता है।

इस तरह होता है एक ओर कुछ संसारी आत्माओं के क्रूर पक्ष का फैलाव तो दूसरी ओर अनेकानेक आत्माओं के शोषण, दमन तथा उत्पीड़न का कारुणिक दृश्य। किन्तु यही क्रूर व्यवहार, यही शोषण और दमन प्रबुद्ध आत्माओं में नया विचार जगाता है। तब मनुष्य और मनुष्य के बीच में समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृत्व का नारा खड़ा होता है और मनुष्य जाति की वैचारिकता का एक नया आयाम सामने आता है, नया चिन्तन उभरता है और विकास की नई मंजिलें कायम की जाती हैं। वाद, प्रतिवाद तथा समन्वय के इस चक्र में चैतन्य तत्त्व का ही जागना, सोना, बगावत करना तथा बुराइयों को फेंक कर अच्छाइयों से अपनी झोली को भर लेना दिखाई देता है। 'मैं' ही इस वाद, प्रतिवाद तथा समन्वय के चक्र का प्रवर्तक होता हूँ किन्तु विडम्बना यही घटती है कि हर बार मैं विकास को अधूरा ही छोड़ देता हूँ उसे उन्नति की सर्वोच्च ऊँचाई तक ले जाने में असमर्थ ही रह जाता हूँ।

मैं सफलता और विफलता के हिंडोले में ही झूलता रहता हूँ—सफलता में सर्वोच्च शिखर तक पहुँच नहीं पाता—इसी कारण संसार का संसरण निरन्तर चलता रहता है क्योंकि अनेकानेक संसारी आत्माओं के साथ 'मैं' उसमें संसरण करता रहता हूँ—उससे ऊपर उठकर संसार—मुक्त हो जाने में हर बार विफल हो जाता हूँ।

मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति

'मैं' जब सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध करता हूं, विकृति के विरुद्ध विद्रोह जगाता हूँ अथवा प्रतिवाद को हटा कर पुनः वाद को प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ तो मेरा यह संघर्ष मूल्यों के लिये लड़ा जाने वाला संघर्ष हो जाता है। मेरी चेतना में मानवीयता के जो मूल्य संस्थापित होते हैं, उनकी प्रतिष्ठा मेरा कर्त्तव्य हो जाता है क्योंकि उन मूल्यों की पुनः पुनः प्रतिष्ठा में ही मुझे सदाशयता का प्रसार दिखाई देता है—वह सदाशयता जो एक से दूसरे की बांह थमवाकर सबको आत्म विकास की महायात्रा में अग्रसर हो जाने की उत्प्रेरणा देती है। यही मेरी मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति होती है।

अपने 'मैं' का यह विकास मुझे भीतर ही भीतर बहुत भाता है। मेरे मूल्य जब उपजते हैं और समाज में साकार रूप लेते हैं तो मेरा अन्तर्हृदय खिल उठता है। इससे मेरा मस्तिष्क तनावमुक्त हो जाता है और आन्तरिकता की अतल गहराइयों में एक असाधारण अनुभूति जन्म लेती है। यही अनुभूति मेरे भीतर तथा भीतर से बाहर संसार में एक नव क्रान्ति जगाने में समर्थ हो जाती है।

मैं कहता हूँ कि पदार्थों के मोह से ऊपर उठकर मानवीय मूल्यों की समाज में सर्वत्र स्थापना, करना इस संसार की सबसे बड़ी क्रान्ति है। इसी कारण सभी मानते हैं कि 'मनुष्य खाने के लिये नहीं जीता, बल्कि जीने के लिये खाता है' और उसका यह जीना सोद्देश्य होना चाहिये। मेरे और मेरे साथियों के ऐसे उद्देश्यपूर्ण तथा सार्थक जीवन से मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति सर्वतोमुखी बनती है। मेरा 'मैं' तब पदार्थों के ममत्त्व से हटकर मूल्यों के संसार में जीने लगता है और भावनाओं की भूमिका का सूत्रधार बन जाता है। मूल्यों के संसार में जिया जाने वाला जीवन ज्यों—ज्यों गहराई में उतरता जाता है, त्यों—त्यों नये मानव—मूल्यों की खोज आरंभ हो जाती है। वह खोज ऐसे दिव्य मोती निकाल लाने में सफल होती जाती है जो मानवों से भी आगे देवत्व के मूल्यों के मोती होते हैं। ऐसे मूल्यों के आधार पर आत्म—विसर्जन का धरातल तैयार होता है। उसे ही नवक्रान्ति की सफलता

का नाम दे सकते हैं।

नव क्रान्ति किसे कहें ? नव क्रान्ति वही जो अपने 'मैं' को गहराई में भीतर तक झकझोर दे, मूल्यात्मक चेतना को उभार दे और आत्मा को विसर्जन के द्वार पर खड़ी कर दे। विसर्जन होगा, अपने स्वार्थों का अपने राग और द्वेष के संकुचित परिणामों का और यह विसर्जन होगा अपने मूल स्वरूप के परिमार्जन के लिये–समाज में मानव–मूल्यों पर आधारित आचरण के प्रसार के लिये। एक "मैं" ऐसा करेगा तो उसके साथ कई "मैं" उसी आस्था और निष्ठा से उसके साथ चल देंगे। तब वे सब 'मैं' मिलकर आत्मीयता के भावों से ओत–प्रोत हो एक नये समाज का निर्माण करेंगे–एक ऐसे समाज का जो अपने समग्र जीवन में अहिंसा को साधन बना कर सत्य रूपी साध्य को प्राप्त करने की सबकी तत्परता को सम्पूर्णतः सहयोग देगा। काश, मूल्यात्मक पृष्ठभूमि पर खड़ा किया गया ऐसा समाज सम्पूर्ण संसार के संसरंण में एक नया ही मोड़ ला दे।

मैं मानता हूँ कि मूल्यात्मक चेतना के अस्तित्व में मनुष्य अपनी पशुता का त्याग कर मनुष्यता के सुघड़ श्रृंगार से सज्जित होता है। केवल पदार्थों के संसार में ही जीने वाला मनुष्य एक पशु से अधिक कुछ नहीं होता। उस दशा में वह अंधा जड़ग्रस्त हो जाता है। जड़ता जितनी छूटती है–चेतना जितनी जागती है, आत्म–विकास की यात्रा उतनी ही प्रखर बनती है। बारीक नज़र से देखें तो जड़ग्रस्तता से सम्पूर्ण मुक्ति ही आत्मा का मोक्ष होता है।

इसलिये मैं देखता हूँ कि जड़–चेतन संयोग ही जब जड़–चेतन संघर्ष का रूप ले लेता है, तब मेरी चेतना जागरण की अंगड़ाइयाँ लेती है–वह चेतना जो अब तक पदार्थों के मोह में, उनसे सुख पाने की आशाओं व लालसाओं में संज्ञाहीन, मूर्छाग्रस्त तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनी हुई थी। इस जड़–चेतन संघर्ष में मेरी चेतना ज्यों–ज्यों जड़ तत्त्व की निरर्थकता, बंधन एवं पतनकारकता को समझती जाती है, त्यों–त्यों वह जड़ को अपने इच्छा क्षेत्र से दूर धकेल देने के लिये उद्यत होती जाती है अथवा यों कहें कि मेरी चेतना तब वास्तविक अर्थों में जड़ को बंधन मानकर तथा महसूस कर उससे मुक्त हो जाने का प्रयास प्रारंभ कर देती है। इसे ही मैं मूल्यात्मक चेतना का विकास मानता हूँ।

इस विकास का तब यह लक्षण स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि मेरी आत्म–चेतना का केन्द्रीकरण पदार्थों के केन्द्र से हट कर मूल्यों के केन्द्र पर टिकने लगता है। मूल्यों को केन्द्र में रखकर जब सद्‌भावना और सन्निष्ठा से

गति की जाती है तब 'मैं' का मूल स्वरूप निखरने लगता है। तब 'मै' के उस निखार पर मैं सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूप तीन रत्नों का प्रकाश फेंकता हूँ तो देखता हूँ कि मेरा 'मैं' निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ चला जाता है।

'मैं' के ऐसे प्रकाशमान जीवन की सार्थकता इस तथ्य में प्रस्फुटित होनी चाहिये कि उसके व्यक्तित्व से निकलता हुआ प्रकाश सारे पथ पर इस तरह बिखरे कि पथ भी पूरी तरह से प्रकाशित हो तथा उस पथ पर चलने वाले भी प्रकाश को अपना सहचर व मार्गदर्शक बना सकें। वे आत्माएँ जो अरिहंतता या वीतरागता की उच्चता का अपनी आन्तरिकता में श्रेष्ठ विकास कर लेती हैं, वे ऐसा ही प्रकाश पाती और फैलाती हैं। मेरी आत्मा भी ऐसे ही प्रकाश की पुजारिन है। मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति से आरंभ होकर सिद्धात्मा के साध्य तक पहुँच जाने को मेरी आत्मा अतीव आतुर है किन्तु उसकी आतुरता की सफलता इस तथ्य पर भी बहुत कुछ निर्भर है कि मेरे अपने चारों ओर के समाज में अहिंसा, समानता तथा सहयोग का वातावरण कितना पुष्ट और सशक्त है। मेरा 'मैं' इस समाज सेवा के साथ साध्य तक पहुँच जाने की अपनी आतुरता को कहाँ तक फलीभूत कर पायगा—यह उसके सत्पुरुषार्थ की प्रबलता पर आधारित होगा।

मूल्यात्मक चेतना, सिद्धावस्था का साध्य तथा मेरी आत्मा का सत्पुरुषार्थ तीनों मिलकर यहां और वहाँ श्रेष्ठ परिवर्तन का बीजारोपण अवश्य करेंगे।

समता के समरस में

मैं मेरे 'मैं' के विकास को समग्र—समाज के विकास में बदलना चाहता हूँ और समाज का विकास तभी चारितार्थ होगा जब उसका समता के आधार पर निर्माण हो। समता के समरस में डूबने पर ही विकास के मोती हाथ लगते हैं।

जब मेरी चेतना शुद्ध मानवीय मूल्यों को प्रकट करेगी और उन्हें समाज में सुप्रतिष्ठित करना चाहेगी तब उसके साथ मूल्यों के जगत् में मेरी भी गहरी पैठ होने लगेगी। मैं किसी एक मूल्य को मान्यता दूंगा तो मेरा दुहरा प्रयास प्रारंभ हो जायगा। एक ओर तो मैं चाहूंगा कि उस मूल्य को सामाजिक मान्यता मिले तथा सभी लोग उसे अपने—अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करें तो दूसरी ओर उस मूल्य पर मैं और अधिक गहरी खोज भी करना चाहूंगा ताकि उसका सृजनात्मक पक्ष अधिकतम रूप से उजागर हो सके। मेरा ऐसा प्रयास जब सामूहिक रूप लेने लगेगा तो सच मानिये कि समता—समाज की

नींव भी पड़ जायेगी। ऐसे समाज का प्रमुख उद्देश्य ही यह होगा कि सभी प्राणी सच्ची सुख शान्ति तथा आत्मिक समृद्धि की दिशा में साथ–साथ आगे बढ़ सकें।

ऐसे समाज के पारस्परिक आचरण के केन्द्र में होगी–अहिंसा। अहिंसा के मूलाधार पर ही व्यक्ति एवं समूह का आचरण केन्द्रित होगा। साध्य के साथ साधन का श्रेष्ठ होना भी अनिवार्य है। मेरा अनुभव बताता है कि अधिकांशतः हिंसा का आचरण अज्ञान दशा में ही होता है। एक अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं देख पाता है कि वह हिंसात्मक प्रवृत्तियों में संलग्न बनकर अपने व अपने साथ सारे समाज के जीवन को कैसे–कैसे निकृष्ट विकारों से रंग देता है। समता समाज के निर्माण की भूमिका में मैं दृढ़तापूर्वक मानता हूँ कि इस समाज के जीवन–व्यवहार में स्थूल हिंसा का कोई स्थान नहीं होगा। हिंसा को मैं सर्वांशतः हेय मानता हूँ–उसका किसी भी अंश में आचरण करना पड़े तो वह उस आचरणकर्त्ता की दुर्बलता होगी किन्तु किसी भी रूप में हिंसा को कभी भी उपादेय नहीं मान सकते हैं। मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति के पश्चात् उन मूल्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा का अर्थ ही यह होगा कि उन मानवीय मूल्यों पर ही सबका आचरण अधिकाधिक निर्भर करे।

इस बीच मेरे मन में एक प्रश्न उठता है कि क्या मैं यह जाने बिना भी समाज निर्माण के कार्य में संलग्न रह सकता हूँ कि मेरा स्वयं का कोई स्थायी अस्तित्व भी है या नहीं ?

जीवनों की क्रमिकता

कोई कहे कि मैं वर्तमान में जो हूँ, मात्र वही हूँ–न मेरा कोई अतीत है और न कोई भविष्य–तो उस कथन में कितना महत्त्व है–यह गहराई से सोचा जाना चाहिये। जैसी कि एक मान्यता है कि पंचभूतों से ही यह शरीर उपजता है तथा मृत्यु के साथ पुनः पंचभूतों में मिल जाता है। यदि इस जीवन का पहले के जीवन से और आगे आने वाले जीवन से श्रृंखला रूप सम्बन्ध न हो तो क्या किसी की इस जीवन की कार्य सम्पूर्ति में सच्ची अभिरुचि पैदा हो सकती है अथवा बनी रह सकती है ? ऐसी विचारणा के साथ क्यों कोई स्थायी प्रभाव वाला कार्य करना चाहेगा जिसका सीधा लाभ उसे न मिलता हो ? मेरा जन्म–जन्मान्तरों का अनुभव है कि वर्तमान केवल वर्तमान ही नहीं है–वर्तमान का अतीत भी है तो उसका भविष्य भी है। और यही काल की क्रमिकता है। उसी प्रकार जीवनों की क्रमिकता अटूट रहती है जब तक कि आत्मा संसार से मुक्ति न प्राप्त कर ले।

जीवनों की क्रमिकता याने कि जो जीवन आज है, वह इससे पहले भी था तथा आगे भी नये जीवन में प्रादुर्भूत होगा—इस संसार का आधार स्तंभ है। जीवनों की क्रमिकता का तात्पर्य है पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म की विद्यमानता। जीवनों की क्रमिकता की धारणा के साथ ही दीर्घकालीन महत्त्व के कार्य हाथ में लिये जा सकते हैं तथा उनकी सम्पूर्ति में ठोस सहयोग दिया जा सकता है। जीवनों की क्रमिकता मात्र एक धारणा ही नहीं है, अपितु वास्तविकता है। इस जीवन से भी पहले जीवन था और उसमें किये गये कृत्यों का फल आज हमें मिलता है। हमारे वर्तमान जीवन में ऐसी कई घटनाएँ घटित होती हैं जिनके कारणों के सूत्र हमें इस जीवन में खोजने से भी नहीं मिलते हैं। इससे निर्णय निकलता है कि उन घटनाओं के कारण पूर्व जन्म में ही होने चाहिये। इसी प्रकार यह मानना भी उतना ही तर्कसंगत होगा कि इस जीवन के बाद आगे भी और जीवन है याने कि पुनर्जन्म हैं जिसमें इस जीवन में किये जा रहे हमारे कृत्यों का फल मिलेगा। इतना ही नहीं, जीवनों की श्रृंखला अनन्तकाल से चलती आई है और तब तक चलती रहेगी जब तक कि यह आत्मा जड़ के साथ अपने सम्पूर्ण सम्बन्धों को विच्छेदित नहीं कर लेगी। अपने अस्तित्व की निरन्तरता की धारणा जब स्पष्ट होती है, तभी स्थायी प्रभाव वाले कार्यों में सतत अभिरुचि बनी रह सकती है क्योंकि यह विश्वास होता है कि इन कार्यों का फल भावी जीवन में प्राप्त हो सकेगा।

मेरा अटल विश्वास है कि 'मैं' सदा काल रहने वाला हूँ। मेरा अस्तित्व स्थायी है। मैं अजर अमर हूँ। मैं अविनाशी हूँ। मेरा यह विश्वास सत्य है क्योंकि आत्म तत्त्व के रूप में मैं एक द्रव्य हूँ जो गुण रूप से शाश्वत होता है— मात्र उसकी पर्यायें परिवर्तित होती रहती हैं। अतः गुण की दृष्टि से 'मैं' शाश्वत हूँ, नित्य हूँ और पर्याय की दृष्टि से 'मैं' परिवर्तनशील भी हूं—अनित्य भी हूँ। इसका आशय यह है कि 'मैं' आत्म रूप से शाश्वत हूँ तो शरीर रूप से विनश्वर। शरीर परिवर्तित होते रहते हैं, आत्मा वही रहती है अपने पूर्वकृत कर्मों से बंधी हुई।

आज मुझे यह मानव तन मिला है—पहले भी मेरी आत्मा का कोई शरीर रहा होगा और इस तन के बाद में भी कर्म फल स्वरूप इसे कोई शरीर अवश्य प्राप्त होगा। आत्म तत्त्व की दृष्टि से मैं किसी भी शरीर में गुणात्मक रूप से वही रहूंगा बल्कि सिद्धशिला पर पहुँच कर भी वही रहूंगा—जो तब नहीं रहेगा, वह है शरीर और उससे संलग्न कर्म समूह। जब तक मेरी आत्मा इस संसार में विचरण करती रहेगी, पर्यायों की दृष्टि से उसके रूप परिवर्तित

नींव भी पड़ जायेगी। ऐसे समाज का प्रमुख उद्देश्य ही यह होगा कि सभी प्राणी सच्ची सुख शान्ति तथा आत्मिक समृद्धि की दिशा में साथ–साथ आगे बढ़ सकें।

ऐसे समाज के पारस्परिक आचरण के केन्द्र में होगी–अहिंसा। अहिंसा के मूलाधार पर ही व्यक्ति एवं समूह का आचरण केन्द्रित होगा। साध्य के साथ साधन का श्रेष्ठ होना भी अनिवार्य है। मेरा अनुभव बताता है कि अधिकांशतः हिंसा का आचरण अज्ञान दशा में ही होता है। एक अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं देख पाता है कि वह हिंसात्मक प्रवृत्तियों में संलग्न बनकर अपने व अपने साथ सारे समाज के जीवन को कैसे–कैसे निकृष्ट विकारों से रंग देता है। समता समाज के निर्माण की भूमिका में मैं दृढ़तापूर्वक मानता हूँ कि इस समाज के जीवन–व्यवहार में स्थूल हिंसा का कोई स्थान नहीं होगा। हिंसा को मैं सर्वांशतः हेय मानता हूँ–उसका किसी भी अंश में आचरण करना पड़े तो वह उस आचरणकर्त्ता की दुर्बलता होगी किन्तु किसी भी रूप में हिंसा को कभी भी उपादेय नहीं मान सकते हैं। मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति के पश्चात् उन मूल्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा का अर्थ ही यह होगा कि उन मानवीय मूल्यों पर ही सबका आचरण अधिकाधिक निर्भर करे।

इस बीच मेरे मन में एक प्रश्न उठता है कि क्या मैं यह जाने बिना भी समाज निर्माण के कार्य में संलग्न रह सकता हूँ कि मेरा स्वयं का कोई स्थायी अस्तित्त्व भी है या नहीं ?

जीवनों की क्रमिकता

कोई कहे कि मैं वर्तमान में जो हूँ, मात्र वही हूँ–न मेरा कोई अतीत है और न कोई भविष्य–तो उस कथन में कितना महत्त्व है–यह गहराई से सोचा जाना चाहिये। जैसी कि एक मान्यता है कि पंचभूतों से ही यह शरीर उपजता है तथा मृत्यु के साथ पुनः पंचभूतों में मिल जाता है। यदि इस जीवन का पहले के जीवन से और आगे आने वाले जीवन से श्रृंखला रूप सम्बन्ध न हो तो क्या किसी की इस जीवन की कार्य सम्पूर्ति में सच्ची अभिरुचि पैदा हो सकती है अथवा बनी रह सकती है ? ऐसी विचारणा के साथ क्यों कोई स्थायी प्रभाव वाला कार्य करना चाहेगा जिसका सीधा लाभ उसे न मिलता हो ? मेरा जन्म–जन्मान्तरों का अनुभव है कि वर्तमान केवल वर्तमान ही नहीं है–वर्तमान का अतीत भी है तो उसका भविष्य भी है। और यही काल की क्रमिकता है। उसी प्रकार जीवनों की क्रमिकता अटूट रहती है जब तक कि आत्मा संसार से मुक्ति न प्राप्त कर ले।

जीवनों की क्रमिकता याने कि जो जीवन आज है, वह इससे पहले भी था तथा आगे भी नये जीवन में प्रादुर्भूत होगा—इस संसार का आधार स्तंभ है। जीवनों की क्रमिकता का तात्पर्य है पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म की विद्यमानता। जीवनों की क्रमिकता की धारणा के साथ ही दीर्घकालीन महत्त्व के कार्य हाथ में लिये जा सकते हैं तथा उनकी सम्पूर्ति में ठोस सहयोग दिया जा सकता है। जीवनों की क्रमिकता मात्र एक धारणा ही नहीं है, अपितु वास्तविकता है। इस जीवन से भी पहले जीवन था और उसमें किये गये कृत्यों का फल आज हमें मिलता है। हमारे वर्तमान जीवन में ऐसी कई घटनाएँ घटित होती हैं जिनके कारणों के सूत्र हमें इस जीवन में खोजने से भी नहीं मिलते हैं। इससे निर्णय निकलता है कि उन घटनाओं के कारण पूर्व जन्म में ही होने चाहिये। इसी प्रकार यह मानना भी उतना ही तर्कसंगत होगा कि इस जीवन के बाद आगे भी और जीवन है याने कि पुनर्जन्म हैं जिसमें इस जीवन में किये जा रहे हमारे कृत्यों का फल मिलेगा। इतना ही नहीं, जीवनों की श्रृंखला अनन्तकाल से चलती आई है और तब तक चलती रहेगी जब तक कि यह आत्मा जड़ के साथ अपने सम्पूर्ण सम्बन्धों को विच्छेदित नहीं कर लेगी। अपने अस्तित्व की निरन्तरता की धारणा जब स्पष्ट होती है, तभी स्थायी प्रभाव वाले कार्यों में सतत अभिरुचि बनी रह सकती है क्योंकि यह विश्वास होता है कि इन कार्यों का फल भावी जीवन में प्राप्त हो सकेगा।

मेरा अटल विश्वास है कि 'मैं' सदा काल रहने वाला हूँ। मेरा अस्तित्व स्थायी है। मैं अजर अमर हूँ। मैं अविनाशी हूँ। मेरा यह विश्वास सत्य है क्योंकि आत्म तत्त्व के रूप में मैं एक द्रव्य हूँ जो गुण रूप से शाश्वत होता है– मात्र उसकी पर्यायें परिवर्तित होती रहती हैं। अतः गुण की दृष्टि से 'मैं' शाश्वत हूँ, नित्य हूँ और पर्याय की दृष्टि से 'मै' परिवर्तनशील भी हूं—अनित्य भी हूँ। इसका आशय यह है कि 'मैं' आत्म रूप से शाश्वत हूँ तो शरीर रूप से विनश्वर। शरीर परिवर्तित होते रहते हैं, आत्मा वही रहती है अपने पूर्वकृत कर्मों से बंधी हुई।

आज मुझे यह मानव तन मिला है—पहले भी मेरी आत्मा का कोई शरीर रहा होगा और इस तन के बाद में भी कर्म फल स्वरूप इसे कोई शरीर अवश्य प्राप्त होगा। आत्म तत्त्व की दृष्टि से मैं किसी भी शरीर में गुणात्मक रूप से वही रहूंगा बल्कि सिद्धशिला पर पहुँच कर भी वही रहूंगा—जो तब नहीं रहेगा, वह है शरीर और उससे संलग्न कर्म समूह। जब तक मेरी आत्मा इस संसार में विचरण करती रहेगी, पर्यायों की दृष्टि से उसके रूप परिवर्तित

होते रहेंगे। आज यह आत्मा मानव तन में स्थित है—पहले किसी अन्य शरीर में थी या आगे किसी अन्य शरीर में निवास करेगी—परिवर्तन का यह एक पहलू है। दूसरा यह कि कभी आत्मा घनघाती कर्मों से लिप्त हो जाती है तो कभी निर्जरा करती हुई हलुकर्मी बन जाती है। इसी प्रकार के कई परिवर्तन भिन्न—भिन्न समयों में परिलक्षित होते हैं। संसारी आत्मा कर्मावृत्त होती है तो सिद्ध की आत्मा कर्म मुक्त। यह आत्म—स्वरूप का पर्याय भेद है। लेकिन गुण रूप से दोनों प्रकार की आत्माओं में मूल की दृष्टि से समानता भी होती है। अतः जीवनों की क्रमिकता में यही 'मैं' का स्थायी और निरन्तर अस्तित्व बना रहता है। इस वस्तुस्थिति के कारण ऐसी मनः स्थिति का निर्माण होता है जिसमें मैं अपने व अपने साथियों याने कि समाज एवं विश्व के दीर्घकालीन विकास के सम्बन्ध में स्थिर मन से विचार कर सकता हूँ तथा निष्ठापूर्वक उस पवित्र कार्य में अपने आपको सफलतापूर्वक नियोजित कर सकता हूँ।

उपरोक्त विचार के आधार पर निश्चित रूप से मेरी जिज्ञासा यह तथ्य जानने के लिये जागृत होगी कि मैं पहले क्या था, कहाँ था, क्या करता था और उन सब बातों का प्रभाव इस जीवन में किस रूप में दिखाई देता है ? कारण, इस जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही मैं कर्म सिद्धान्त के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया को भली—भांति समझ सकूंगा।

मैं कहाँ से आया हूँ ?

इस विषयक विश्लेषण के साथ मेरे मन में सबसे पहले यह प्रश्न खड़ा हुआ है कि मैं कहाँ से आया हूँ ?

यह प्रश्न मेरे ही मन में आया हो—ऐसी बात नहीं है ? संभवतः यह प्रश्न प्रत्येक विचारवान् मानव के मन में उठता होगा, तभी तो शास्त्रों और सूत्रों में भी इस प्रश्न को उठाया गया है तथा उसका समुचित उत्तर भी दिया गया है।

कहा है—'यहाँ इस संसार में कई मनुष्यों को होश नहीं होता जो कहते हैं कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ, अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ। मैं ऊपर की दिशा से आया हूँ, नीचे की दिशा से आया हूँ या अन्य दिशाओं से आया हूँ। क्योंकि ऐसा कहने वाले यह नहीं समझते कि उनकी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। इसलिये विचारणीय यह है कि पिछले जन्म में मैं कौन था, अथवा इस जन्म से आगे जाने पर भावी जन्म में मैं क्या होऊँगा ? इसका ज्ञान मैं (अ) स्वकीय स्मृति द्वारा, (ब) अतीन्द्रिय ज्ञानियों के कथन के द्वारा अथवा (स) अतीन्द्रिय ज्ञानियों के सम्पर्क से समझे हुए व्यक्तियों के समीप से सुन कर ही प्राप्त कर सकता हूँ। मैं यदि

यह जान लेता हूँ, कि मेरी आत्मा पूर्व जन्म में किस शरीर में स्थित होकर किस रूप में थी अथवा पुनर्जन्म में किस शरीर में स्थित होकर क्या रूप ग्रहण करेगी तो ऐसे ज्ञान से मैं अपने आत्म तत्त्व में पूर्ण मान्यता एवं आस्था रखने वाला बन जाता हूँ और मैं जब अपनी आत्मा को मानने वाला बन जाता हूँ याने कि जीव तत्त्व के अस्तित्व को मान लेता हूँ तब स्वाभाविक रूप से अजीव तत्त्व याने कि पुद्गल के अस्तित्व को भी मान लेता हूँ और कर्म बंधन के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया को भी मानता हुआ मन, वचन एवं काया के योग–व्यापार को भी मानने वाला बन जाता हूँ।

सचमुच ही ऐसा मनुष्य जो मन, वचन, काया के योग व्यापार तथा उनकी क्रियाओं को नहीं समझ पाता है, वह सभी दिशाओं अथवा अनुदिशाओं से आकर संसार की विभिन्न गतियों तथा योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। वह सभी दिशाओं से दुःखों को भोगता है, अनेक प्रकार की योनियों से जुड़ता है एवं अनेक रूपों में वेदनाओं तथा पीड़ाओं का अनुभव करता है। उस मनुष्य के लिये ही आप्त पुरुषों ने ज्ञान दिया है। उसी ज्ञान के प्रकाश में कोई भी मनुष्य अपने मन, वचन, काया की विविध क्रियाओं को भली–भांति समझ सकता है।

मैं आप्त पुरुषों द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान से अथवा स्वकीय स्मृति से जब जुड़ता हूँ तब मुझे समझ में आने लगता है कि मैं कहाँ से आया हूँ। वर्तमान जीवन में मैं सुख एवं दुःख का जो अनुभव ले रहा हूँ, उससे मुझे मेरे पूर्व जन्म का अनुमान लग जाता है और अब जो कुछ मैं कर रहा हूँ उसके आधार पर ही मैं यह भी समझ सकता हूँ कि मेरा पुनर्जन्म कैसा होगा।

पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म में अपने अस्तित्व की निरन्तरता को पहचान कर मैं आश्वस्त होता हूँ कि मैं जो कुछ भी कृत्य इस जीवन में करूं, उसे स्थिर मन से करूं क्योंकि उसका शुभाशुभ प्रभाव जहाँ दूसरों पर पड़ेगा, वहाँ उसका शुभाशुभ फल मुझे भी अभी या बाद में अवश्यमेव मिलेगा। मेरे मन में इस धारणा की सम्यक् पुष्टि हो जाने के बाद मेरे कार्यकलापों में स्थायित्व की भावना आ जाती है। इसके साथ ही स्वहित एवं परहित के कार्यों की भी मुझे भली प्रकार से पहिचान हो जाती है। तब मैं पक्के तौर पर समझ जाता हूँ कि परहित में स्वहित भी समाया हुआ रहता है क्योंकि परहित तभी सम्पादित किया जा सकता है जब अधिकांश रूप से स्वहित सम्पादित कर लिया होता है। और स्वहित का सम्पादन स्व की श्रेष्ठता को साध लेने के बाद ही संभव बनता है।

यह सब समझ लेने के बाद मैं स्व के स्वरूप को उत्कृष्ट बनाता हुआ परहित के कार्यों में संलग्न होता हूँ। तब परहित की मेरी निष्ठा का इतना विकास होने लग जाता है कि परहित के पवित्र कार्य में यदि मुझे अपने जीवन का भोग देने का अवसर भी उपस्थित हो तो मैं उससे पीछे नहीं हटूंगा। मैं अपना पूरा जीवन भी समर्पित कर देने के लिये तब तत्पर हो जाता हूँ, क्योंकि वह समर्पित जीवन मेरी भवभावन्तरों से निरन्तर चल रही अपनी आत्म विकास की महायात्रा को अग्रगामी बनायेगा–इस सत्य से मैं आश्वस्त हो जाता हूँ। यही आश्वस्ति मुझे मुक्ति के मार्ग पर अविचल गति से आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

यह दुर्लभ मानव–तन

ऐसी प्रेरणा के साथ मेरे मन–मस्तिष्क में यह बात समा जाती है कि वर्तमान जीवन सम्पूर्ण आत्म विकास की महायात्रा का एक पड़ाव मात्र है। पड़ाव वह बिन्दु होता है जहाँ ठहर कर यह सोचा जा सके कि मैं कहाँ से आया हूँ और किसलिये आया हूँ ? आगे के लिये मुझे इस पड़ाव पर किस प्रकार के कार्य करने हैं ताकि महायात्रा अबाध रूप से चलती रहे ?

ऐसा सोचना इस कारण से भी आवश्यक है कि मैं इस पड़ाव का महत्त्व जान सकूं और यह समझ सकूं कि यहाँ के अपने कार्य–कलापों के माध्यम से पकड़ी गई मेरी अपनी गति मुझे साध्य की ओर ले जायेगी या नहीं और ले जायेगी तो उसके बीच की दूरी कितनी जल्दी कम की जा सकेगी ? इस समझ से मेरे भीतर यह सतर्कता भी पैदा होगी कि कहीं मैं आत्म–विस्मृत बनकर उद्देश्यहीनता के जंगल में तो नहीं भटक जाऊंगा ?

जब मैं इस पड़ाव पर याने कि अपने वर्तमान जीवन में पूरी तरह से सतर्क रहूंगा तो मैं साध्य प्राप्ति की पटरी से नीचे नहीं उतरूंगा, बल्कि उस पटरी पर अपनी चाल को तेज बनाने का भी कठिन प्रयत्न करूंगा। मैं अपने कार्य कलापों का निरन्तर लेखा–जोखा लेते हुए अपने साध्य को सदैव समक्ष रखूंगा ताकि उन्हें साध्य प्राप्ति के अनुकूल बनाये रख सकूं। फिर पड़ाव मात्र पड़ाव ही नहीं होता, बल्कि एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक पहुँचने का गतिक्रम भी होता है। अतः आज मैं यह सोचना चाहता हूँ कि मुझे जो यह मानव–तन मिला है–पहली बात तो यह कि वह महायात्रा को सफल बनाने के उद्देश्य से दुर्लभ क्यों है और दूसरे, यदि वह दुर्लभ है तो उसका मैं अधिकतम रूप से सदुपयोग कैसे कर सकता हूँ ?

मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण कर रही है जहाँ उसने चार गतियों, चौरासी लाख योनियों तथा असंख्य उप जातियों में बार–बार जन्म लेकर भांति–भांति के अनुभव लिये हैं। मेरी आत्मा आज मानव तन में आई है और वह चिन्तन मनन की धनी बनी है। इस जीवन में मैं जो कुछ देखता हूँ, सुनता हूँ और जानता हूँ, उस पर चिन्तन–मनन करके उसके मूल एवं विस्तार को पकड पाने की मुझ में क्षमता विद्यमान है। मैं विभिन्न योनियों में उत्पन्न जीवों की स्थिति को देखता हूँ–उनके हलन–चलन को समझता हूं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि कोई भी अन्य योनि इतनी शक्तियों से सम्पन्न नहीं है जितनी कि मुझे प्राप्त यह मानव गति और योनि है। स्वयं मनुष्य के कष्टों का भी जब मैं आकलन करता हूँ तो लगता है कि उनमें भी मेरी स्थिति श्रेष्ठतर है।

इस समीक्षण से मुझे यह विश्वास हो जाता है कि वास्तव में यह मानव–तन दुर्लभ है, क्योंकि अन्य कोई ऐसा तन नहीं, जिसमें महायात्रा को सफल बनाने हेतु इस तन से अधिक सामर्थ्य रहा हुआ हो। सामर्थ्य का अर्थ शारीरिक शक्ति से भी ऊपर वह आध्यात्मिक शक्ति है जिसकी साधना किसी भी अन्य आत्मा को ऊर्ध्वगामी बना सकती है। मुझे देव–योनि का खयाल आता है, जिसमें उत्पन्न देवताओं का वैक्रिय शरीर, भौतिक ऐश्वर्य, दिव्य ऐन्द्रिक सुखों का अनुभव अथवा रोग एवं वृद्धावस्था के कष्टों के अभाव में सदाबहार यौवन मुझे प्राप्त मनुष्य–तन के लिये ईर्ष्या के विषय हो सकते हैं किन्तु देव–तन से मुझे कोई ईर्ष्या नहीं है क्योंकि मुझे इस तथ्य का सुनिश्चित ज्ञान है कि आत्म–विकास के साधक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित करने का देव योनि में भी कोई सामर्थ्य नहीं होता है और इसी कारण देवलोक के देव भी मनुष्य तन को प्राप्त करने की वांछा करते हैं।

जब ऐसा मनुष्य तन मुझे प्राप्त हुआ है तो निश्चय ही वह दुर्लभ है। यदि यह मनुष्य–तन इतना दुर्लभ है तो निश्चय ही ऐसी दुर्लभ–उपलब्धि के सदुपयोग के विषय में मुझे अत्यधिक सतर्क भी हो जाना चाहिये। ऐसा मनुष्य जन्म व्यर्थ में ही व्यतीत न हो जाय या कि संसार की मायावी उलझनों में उलझाकर मैं इसे निरर्थक न कर दूं– इसकी पूरी सावधानी प्रतिपल के मन–मानस में उभरी हुई रहनी चाहिये।

संसार की रीति को मैं देखता हूँ कि [illegible] एक सामान्य जन सहेज कर रखता [illegible] है और यदि [illegible] अनुकूल [illegible] मिल जाय तो वह उसे बहुत ही [illegible] के साथ रखता है। [illegible]

यह नादानी नहीं होगी कि श्रेष्ठतम रत्नों से भी अनन्त गुना श्रेष्ठ इस मानव–जीवन के प्रति सम्पूर्ण सावधानी न रखी जाय ? एक अज्ञानी ही इस दुर्लभ जीवन की उपेक्षा कर सकता है, वरन् इस जीवन का एक–एक पल इतना अमूल्य माना जाना चाहिये कि उसका आत्म विकास के अलावा किसी भी दूसरी बात में अपव्यय न हो। ऐसा सोचकर एक कठिन सावधानी मेरे मन में जाग उठती है। और यही मनुष्यता कहलाती है।

अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ

यह कठिन सावधानी ही मुझे और आगे देखने तथा सोचने को प्रेरित करती है। मुझे मनुष्य तन मिला है और निश्चय ही यह दुर्लभ तन मुझे मेरे असीम पुण्योदय से ही प्राप्त हुआ है। मैं सोच रहा हूँ कि पहले मैंने ऐसा क्या पुण्य कर्म उपार्जित किया था जिससे यह तन तो मिला किन्तु अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ भी मुझे इसके साथ प्राप्त हुई है जो यदि नहीं मिलती तो इस मनुष्य तन की विशिष्ट सार्थकता को प्रकट करने में मैं समक्ष नहीं बन पाता। अब इन दुर्लभ प्राप्तियों सहित यदि मैं इस मानव तन का पूर्ण सदुपयोग करूं तो अवश्य ही मैं आत्म विकास की इस महायात्रा में नये–नये आयाम सम्पादित कर सकता हूँ।

क्या हैं वे अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ, जिन्हें सहज संवार कर मुझे अपनी सफलता के चरण आगे बढ़ाने हैं ?

आत्म विकास की कठिन साधना करने का मानव तन के रूप में पहला सामर्थ्य मुझे अवश्य ही प्राप्त हुआ है किन्तु अन्य दुर्लभ प्राप्तियों के अभाव में यह पहला सामर्थ्य पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता है। मानव तन के सामर्थ्य को क्रियाशील बनाने के लिये सबसे पहली आवश्यकता होती है ज्ञान के प्रकाश की। अगर अंधेरा ही छाया रहे तो यह समर्थ मानव तन भी सांसारिक प्रलोभनों में भटक जायगा तथा अपने को क्षत–विक्षत बनाकर शक्तिहीन कर लेगा। अतः मुझे ऐसा प्रकाश चाहिये जो अज्ञान के अंधकार को दूर करके तथा मेरे प्रगति पथ को आलोकित बना दे। मैं अपनी आंखें खोलूं ही नहीं या बन्द कर दूं यह दूसरी बात है, लेकिन ज्ञान का ऐसा प्रकाश भी मुझे मिला है और वह प्रकाश–मार्ग है वीतराग धर्म का श्रवण। इस दुर्लभ प्राप्ति को हम श्रुति कहते हैं।

यहाँ यह समझ लेने की जरूरत है कि वीतराग धर्म क्या होता है ? यह धर्म कोई मत मतान्तर वाली बात नहीं है। यह तो शाश्वतता, सार्वभौमिकता तथा सार्वकालिकता का प्रतीक होता है क्योंकि यह किसी एक विशिष्ट पुरुष

द्वारा उपदेशित विधि–विधान नहीं होता है। राग और द्वेष–सांसारिकता के ये दो ही मुख्य बंधन होते हैं। द्वेष को त्याग देना अपेक्षा से फिर भी सरल होता है किन्तु राग–भाव छोड़ कर तटस्थ हो जाना अति कठिन है। अतः द्वेष के बाद राग को भी व्यतीत कर देने वाले महापुरुष वीतराग कहलाते हैं जो समभावी एवं समदर्शी हो जाने के कारण उनकी दृष्टि में संसार के समस्त प्राणी समान होते हैं और वे अपनी साधना के समुच्चय अनुभवों को समस्त प्राणी हित में ढालकर जो उपदेश देते हैं, वे ही वीतराग–धर्म के रूप में संकलित माने जाते हैं। इस प्रकार वीतराग धर्म सर्व प्राणी हितकारी अर्थात् सम्पूर्ण जग हितकारी होता है। ऐसी वीतरागी आत्माओं ने जो धर्म बताया है, वही सच्चा ज्ञान है। और मुझे इस धर्म को सुनने तथा तदनुसार आचरण करने का सुअवसर प्राप्त है–यह श्रुति नाम की मेरी दुर्लभ प्राप्ति है।

सामर्थ्य हो, ज्ञान हो किन्तु दोनों पर यदि अपने अन्तःकरण की गूढ़ श्रद्धा न हो तो क्या वैसा सामर्थ्य सक्रिय बन सकेगा और ज्ञान मार्गदर्शक ? श्रद्धा के अभाव में दोनों दुर्लभ प्राप्तियाँ भी आत्म–विकास हेतु उपयोगी नहीं बन सकेगी। वह श्रद्धा भी सम्यक् होनी चाहिये। यह मेरे लिये शुभ संयोग है कि मुझे मेरा अन्तरस्तल टटोलने पर वहाँ श्रद्धा की–आस्था की झलक दिखाई देती है।

मानव तन, श्रुति एवं श्रद्धा के साथ आचरण की सुदृढ़ पृष्ठभूमि का स्वतः ही निर्माण हो जाता है क्योंकि उन अनुकूल परिस्थितियों में स्वाभाविक हो जाता है कि आचार धर्म सक्रिय बन जाय। सामर्थ्य, ज्ञान और आस्था के सम्बल के साथ यह मेरा विश्वास है कि आचरण की उत्कृष्टता सहज ही में बन सकती है। आचरण की कर्मठता ही संयम साधना में नये–नये पराक्रमों का उद्घाटन करती है। यह अन्तिम और ऐसी दुर्लभ प्राप्ति है जिसके लिये मैं सोचता हूँ कि यदि मैं दृढ निश्चय बनाऊं तो यह दुर्लभ प्राप्ति भी मेरी पहुँच से बाहर नहीं है। मानव तन का सदुपयोग वीतराग धर्म की आराधना में सम्यक् श्रद्धा एवं संयमीय पराक्रम के साथ किया जाता है तो निश्चय मानिये कि साध्य की समीपता बढती ही चली जायेगी। इन चारों दुर्लभ प्राप्तियों का शुभ संयोग एवं श्रेष्ठ नियोजन सोने में सुहागा बन जाता है।

इन दुर्लभ प्राप्तियों के संदर्भ में मुझे अपने भीतर में झांकना है और कड़ाई से परखना है कि क्या मैंने अपनी इन सभी प्राप्तियों की दुर्लभता की पहिचान कर ली है और इनकी दुर्लभता का अपने आत्म–विकास के परिप्रेक्ष्य मे वास्तविक आकलन करके इन प्राप्तियों को पूरी सावधानी से सहेजने का

संकल्प कर लिया है ? क्या यह भी मैंने सोचा है कि मेरे किस पुण्योदय के प्रतिफलस्वरूप ये दुर्लभ प्राप्तियाँ मुझे सुलभ हुई हैं ? कारण, इन प्रश्नों का सही विश्लेषण कर लेने के बाद ही मैं अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित कर पाऊंगा कि अब मुझे कितनी अधिक लगन और जीवट से शुभ कार्यों में लगना चाहिये ताकि ये दुर्लभ प्राप्तियाँ अपने आत्म विकास को उच्चतर श्रेणियों में ले जाने की दृष्टि से अधिकाधिक सहायक बनें।

मैं कल्पना कर रहा हूँ कि मेरा कोई स्नेही एक अमूल्य हीरा मेरे हाथ पर रखकर चुपचाप वहाँ से चला जाय और उस हीरे को मैं आश्चर्य से निरखता ही रहूं तो उस समय मेरी क्रियाशीलता क्या होगी ? यह क्रियाशीलता मेरे अपने स्वभाव तथा उस समय मेरी जानकारी के अनुसार ही प्रकट होगी। अगर मुझे हीरे के मूल्य या महत्त्व के बारे में सामान्य जानकारी भी नहीं होगी तो मैं झुंझला कर उसे फेंक दूंगा यह समझकर कि मेरे स्नेही ने फालतू की चीज पकड़ा कर व्यर्थ ही में मेरा उपहास किया है। यदि मुझे सामान्य जानकारी भी होगी तो मैं उसे निरख कर अपने हिसाब से ही सही–परखने की चेष्टा करूंगा। परखने में मन के विश्वास ने मदद की तो मैं उस हीरे की बहुमूल्यता समझ जाऊंगा और अपने उस स्नेही के प्रति अपना आभार प्रकट करूंगा। उसके बाद अवश्य ही मैं उस हीरे की सहायता से अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बना लूंगा।

इसी क्रमिकता को मैं जब मनुष्य तन के साथ जोड़कर देखता हूँ तो अनुभूति जागती है कि जो लोग अमूल्य हीरे जैसे इस मनुष्य जीवन को कांच के टुकड़े जैसा मान कर संसार की भौतिक सुख सुविधाओं की प्राप्ति में ही उसका दुरुपयोग करते रहते हैं, उन पर मुझे बड़ी दया आती है। क्योंकि वे अपने अज्ञान अथवा अपने अपौरुष की स्थिति में इस अमोल मनुष्य जीवन की महत्ता को आंक ही नहीं पाते हैं। वे मानव जीवन का ऐसा दुरुपयोग करके इस जीवन को तो विनष्ट करते ही हैं, किन्तु आत्म–विकास की दृष्टि से भविष्य को भी कंटकाकीर्ण बना लेते हैं। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' जैसे अनैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके वे लोग मात्र इस तन का पोषण करने में ही लग जाते हैं–उसके पहले लगे विशेषण 'मानव' के महत्त्व को विसार देते हैं।

मेरा चिन्तन यह है कि इस तन का उतना ही पोषण करना चाहिये जितने से इसे आत्मा के पोषण एवं विकास में सार्थक दृष्टि से नियोजित किया जा सके। मानव जीवन का सही मूल्यांकन करना एवं उसके मूल्यानुसार

उसे वैसे कार्य में नियोजित करना—यह विवेकशील पुरुष का कर्त्तव्य है। मैं सोचता हूँ कि जब ज्ञान के प्रकाश में मेरा विवेक जागृत हो तो मैं वास्तविकता को समझने में उसका पूरा उपयोग क्यों न करूं ? क्यों समझते—बूझते हुए इस अमूल्य जीवन का अपव्यय करूं एवं मूढ़ कहलाऊं ?

मैं मूढ नहीं बनाना चाहता हूँ तो भला दूसरा कोई भी क्यों मूढ़ बनाना चाहेगा ? इसलिये आवश्यकता इस बात की भी है कि इस मानव तन एवं अन्य प्राप्तियों की दुर्लभता नासमझ लोगों को भी समझाई जाय तथा उन्हें इनका सदुपयोग करने की सत्प्रेरणा दी जाय। मैं स्वयं अपनी समझ को पक्की बनाकर यह कार्य भी करना चाहता हूँ। कारण, जो एक बार इस मानव तन के वास्तविक महत्त्व को आंकना व समझना शुरू कर देना, वह इसके सदुपयोग के विषय में भी अवश्यमेव चिन्तन करेगा। चिन्तन की तब यही परिणति होगी कि वह अपने आचरण को इस रूप में ढाले कि जिससे आत्म विकास एवं सर्व सेवा का कार्य सहज हो जाय। स्पष्ट चिन्तन के बाद ही उसका मंतव्य बन जायगा कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' यह मंतव्य ही उसे समग्र क्रियाशीलता की दिशा में मोड़ देगा। फिर तो वह आगे ही सोचेगा और आगे से आगे ही बढता रहेगा। उसकी प्रगति को कोई भी अवरूद्ध नहीं कर सकता जब तक कि उसकी सम्यक्त्व निष्ठा, अटल आस्था एवं संयम साधना सुदृढ बनी रहेगी।

मैं यही सोच रहा हूँ कि कैसे मैं अपने इस दुर्लभ मनुष्य तन तथा अन्य दुर्लभ प्राप्तियों के पूर्ण सदुपयोग का दृढ़ संकल्प लूं एवं धर्म साधना में निरत बनूं ?

मानवीय चिन्तन के मोड़

आत्म—विकास की इस महायात्रा में भी कई दोराहे, तिराहे और चौराहे आते हैं जिन पर कुछ देर ठहर कर गहराई से सोचकर अपने जाने का सही रास्ता निश्चित करना होता है। यदि एक बार भी भूल हो जाती है और गलत रास्ते पर आगे बढ जाते हैं तो उस भूल को सुधारना कठिन कार्य बन जाता है। दोराहे, तिराहे या चौराहे पर शान्तिपूर्वक यदि अपना सही मार्ग नहीं खोज पाये तो समझिये कि कई बार जितना चले हैं, वह सब भी व्यर्थ हो जाता है बल्कि पांव नये—नये बीहडों में उतर कर बेकाम हो जाते हैं।

मैं इन दोराहो, तिराहो या चौराहों को मानवीय चिन्तन के मोड़ मानता हूँ। इन बहुमार्गीय केन्द्रों पर ही साधक की परीक्षा होती है कि वह सही मार्ग खोज पाता है अथवा नही। इस खोज के आधार पर ही उसके चिन्तन का

मूल्यांकन किया जायगा। प्रगति का सही मार्ग खोज लेने पर ये केन्द्र मानवीय नव–चिन्तन के मोड़ बन जाते हैं।

सामाजिक के प्रारंभ से देखें अथवा अपने स्वयं के जीवनारंभ से देखें और सभी तरह के विचारों के द्वन्द्वों का विश्लेषण करें तो सरलता से समझ में आ जायेगा कि जब–जब आसाक्ति और ममत्व की मूर्च्छा हमारे मन–मस्तिष्क को घेरती है, तब–तब हम अपने निजत्व को भूलकर जड़ तत्त्वों एवं सांसारिक उपलब्धियों को पा लेने में तथा व्यक्ति–मोह को पुष्ट बनाने में अपनी समस्त शक्तियों को नियोजित कर देते हैं। तब हमारी क्रियाएँ आत्म–विकास के विपरीत बन जाती हैं और हमारी आन्तरिकता राग–द्वेष तथा प्रमाद के कलुष से कालिमामय हो उठती है। तब हम स्वार्थ के ममत्त्व पक्ष में गिरकर पर के प्रति अन्याय एवं अत्याचार की भावना से आक्रान्त हो जाते हैं। ऐसी दशा हमारी आत्म विस्मृति होती है। यह दशा हमें चिन्तनहीन जड़ग्रस्तता की ओर ले जाती है। इस दशा में चिन्तन की विपरीतता अथवा विगति उभर कर ऊपर आ जाती है और विपरीतता या विगति में मानवीय मूल्य दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। ऐसी मनः स्थिति में दोराहे, तिराहे या चौराहे पर सही मार्ग की खोज प्रायः असफल ही रहती है।

किन्तु मेरा चिन्तन चलता है कि यदि मैं मानव जीवन के दुर्लभ महत्त्व को भली–भांति आंक लूं एवं अन्य दुर्लभ प्राप्तियों की भी पूरी सहायता ले लूं तो निश्चय ही मेरी दृष्टि सम्यक् बन जायगी और सही मार्ग की खोज भी सफल होगी क्योंकि मेरी दृष्टि एवं विचारणा पर आसक्ति या ममत्व की धुंध जमी हुई नहीं होगी। उस उन्नत मन–मानस के साथ मैं अपनी प्रत्येक समस्या का समाधान बाहर से भीतर प्रवेश करके खोजूंगा और आन्तरिकता की गहराइयों में उतर कर सुन्दर समाधान के मोती बाहर निकाल लाऊंगा। वह चिन्तन और खोज मेरे लिये आनन्द के विषय बन जायेंगे। मेरी आस्था है कि तब मेरा चिन्तन भी विकास की ऊँची से ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ता जायेगा और समग्र जीवन को समर्पित दृष्टिकोण वाला बना देगा। फिर मैं अपने प्रत्येक कार्य के माध्यम से मानवता की कसौटी पर खरा उतरना चाहूंगा और सबको एक में तथा एक को सबमें देखने का अभ्यास करूंगा। मुझे इसी चिन्तन के नये–नये मोड़ों से विश्व–कल्याण के नये–नये आयाम दृष्टिगत होंगे।

इस दृष्टि से मैं अपना अन्तरावलोकन करता हूँ तो देखता हूँ कि अनुकूलताओं तथा प्रतिकूलताओं के हिंडोले में मैंने बहुत चक्कर काटे हैं, तृप्ति

तथा अतृप्ति की काफी कुंठाएँ सहन की हैं और अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण मैं बाह्य जगत् की अंधेरी गलियों में बेहद भटका भी हूँ। परिणामस्वरूप मैं अज्ञान, आसक्ति एवं मूर्छा के घेरों में पडा छटपटाता रहा हूँ। वह छटपटाहट कब मिटी, कैसे मिटी, किसने मिटाई, यह सब कुछ मैं नहीं जानता, किन्तु सत्संयोगो ने मेरी भावनाओं की दबी हुई चिनगारी को उघाड़ा है और उसे वीतराग धर्म की हवा दी है। तब वही चिनगारी तेजोमय बन कर मुझे सम्यक् श्रद्धा का मार्ग दिखाती है तो संयमाभिमुख भी बनाती है।

मैंने अनुभव किया है कि चिन्तन के भिन्न–भिन्न मोड़ ही आत्म–जागरण की ओर ले जाते हैं और उनका अभाव ही आत्म–विस्मृति के गर्त्त में भटक कर मुझे शून्य सा बनाता आया है। परन्तु मानवीय चिन्तन के ये स्वाभाविक मोड माने गये हैं कि मनुष्य पहले अपने जीवन–निर्वाह हेतु पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयास करता है और उस प्रयास में जब पारस्परिक टकराव गहरे और घातक होते हैं तब उस दोराहे पर एक मार्ग पर वह आगे बढ़ जाता है। या तो वह परम स्वार्थी तथा क्रूर बनकर मानवता के प्रति अन्याय में लिप्त हो जाता है अथवा उस टकराव से वह करुणा सीखता है, त्याग भाव से आप्लावित होता है एवं 'सर्वभूतेषु आत्मवत्' बनना शुरू हो जाता है। किन्तु होता है यह सब चिन्तन के ही बल पर।

मैंने चिन्तन का अभिप्राय यह समझा है कि सामने उपस्थित परिस्थितियों को विवेक के साथ समझना, साध्यगत आदर्शों के संदर्भ में उन पर गहराई से विचार करना तथा ऐसे सोद्देश्य बन कर अपने उस समय के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करना। इस प्रक्रिया में जितने सर्वजन हितकारी मोड आते हैं, उतना ही व्यक्ति समाज मे महान् होता जाता है। एक अवस्था वह भी आती है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को घनीभूत सामाजिकता में तिरोहित कर देता है--वह व्यक्ति और समाज की श्रेष्ठता की अवस्था होती है।

मेरा चिन्तन चलता है कि मै भी मानवीयता के उच्चतर मोडों से गुजरूं और आत्म विकास की नई मंजिले तय करूं। इस क्रम में मैं दुःख और सुख का वास्तविक स्वरूप समझ सकूंगा तथा सर्वेक्षण कर सकूंगा कि वह लोग, जिसे सुख की संज्ञा देते हैं, वह भला वास्तव में सुख है भी या नहीं और जिसे दुःख मानकर चलते हैं, क्या वही दुःख नई चिन्तनधारा से [illegible] का प्रेरक नहीं बन जाता है ? सुख–दुःखानुभव का सर्वेक्षण अवश्य ही मुझे नया ज्ञान प्रदान करेगा।

सुख–दुःखानुभव का समीक्षण

मुझे वीतराग देवों के इस वचन में अपार आस्था है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता अतः किसी को दुःख मत दो। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे समाज का निर्माण करो जिसमें हिंसा का चलन एकदम बन्द हो जाय और अहिंसा ही सर्व प्रकार के आचरण का मूलाधार बन जाय। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच मूल्यात्मक चेतना की प्रबल अभिव्यक्ति के साथ ऐसा समतापूर्ण व्यवहार हो कि सारे समाज में सुख, शान्ति एवं समृद्धि का वातावरण प्रसारित हो जाय। सभी इस उक्ति में विश्वास करने लगें कि दुःख न दो, दुःख नहीं होंगे एवं सबको अपने आचरण से सुख दो ताकि स्वयं भी सदा सुख का रसास्वादन करते रहो। सुख और दुःख के अनुभव के संदर्भ में अज्ञान होने के कारण ही व्यक्ति सिर्फ अपने ही लिये सुख का वातावरण बनाना चाहने लगता है तथा उसकी उसी स्वार्थी वृत्ति का दुष्परिणाम प्रकट होता है कि वह हिंसा का आचरण करना आरंभ करता है। कई बार वह सामूहिक हित के लिये भी मात्र अज्ञान के कारण हिंसा का आचरण करना चाहता है। हिंसा का मूल ही अज्ञान होता है। इसी कारण वह यह तथ्य नहीं समझ पाता है कि तात्कालिकता को छोड़ कर हिंसा का दूरगामी प्रभाव सारे समाज को तथा स्वयं उसको भी दुःखों के महासागर में पटक देता है।

मेरा यह अनुभव है कि श्रेष्ठ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भी अपनाये गये हिंसात्मक कृत्य में हिंसा, हिंसा ही रहेगी।

मेरा मानना है कि सुख एवं दुःख के अनुभवों का समीक्षण करते समय हिंसा के स्वरूप को भलीभांति समझ लेना चाहिये। हिंसा का अर्थ केवल किसी भी अन्य प्राणी को प्राणविहीन करना ही नहीं है, किन्तु किसी भी प्राणी की उसकी अपनी स्वतन्त्रता का किसी भी रूप में हनन करना भी हिंसा की ही व्याख्या में सम्मिलित माना गया है। अतः आप्त पुरुषों का उपदेश है कि किसी भी प्राणी को मत मारो–उसके प्राणों को चोट मत पहुँचाओ। इसका भी बड़ा गूढ़ आशय है। इस प्राणों–पांचों इन्द्रियों, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास तथा आयुष्य में से किसी भी प्राण पर आघात मत करो। किसी का जीवन समाप्त कर देना तो हिंसा है ही, लेकिन किसी की किसी भी इन्द्रिय, मन वचन या काया अथवा उसके श्वासोश्वास तक को चोट पहुंचाना भी हिंसा के अंग माने गये हैं।

मुझे पूरी एकाग्रता से प्रत्येक समय में अपना यह कर्त्तव्य ध्यान में रखना है कि मैं किसी भी अन्य प्राणी के प्राणों में से किसी एक प्राण को भी

किसी भी रूप मे किसी भी प्रकार का आघात नहीं पहुँचाऊं। दूसरे, इन प्राणों से सम्बन्धित किसी भी प्राणी की उसकी अपनी स्वतन्त्रता को भी किसी भी कारण प्रतिबाधित न करूं। मैं सभी प्राणियों की सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं का पूरी तरह सम्मान करूं, बल्कि खोई हुई उनकी स्वतन्त्रताओं को उन्हें प्राप्त कराऊं। अन्य प्राणियों की स्वतन्त्रताओं को स्थायी बनाने का मैं यह अर्थ मानूं कि किसी भी प्राणी पर मैं अपना शासन करने की चेष्टा न करूं–किसी भी रूप में उसे अपना गुलाम न बनाऊं क्योंकि किसी भी प्राणी को सताने से उसके मन में अशान्ति का ज्वार उठता है तथा अशान्त मन ही हिंसा की राह पर मुडकर सारे समाज में हिंसा के चलन को बढ़ाता है। एक व्यक्ति की हिंसा सामाजिक हिंसा का रूप लेती हुई सर्वत्र फैलने लगती है तब सारा समाज अशान्त हो उठता है। सामाजिक अशान्ति का परिणाम होता है, सामाजिक दुःख याने कि सबका दुःख। जब हिंसा के वातावरण में सभी दुःखी होंगे तो किसी को भी सुख कहाँ से मिलेगा ?

इसलिये मैं यह मानकर चलता हूँ कि अपने या पूरे समाज के दुःख के लिये हम ही जिम्मेदार हैं या यों कहें कि इस दुःख और सुख के नियन्ता हम हैं। कर्मोपार्जित दुःख भी शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाय तो वह भी भावी सुख का कारण बन जाता है। इस दृष्टि से चाहे व्यक्ति के लिये हो या व्यक्ति–व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण समाज के लिये हो, समतामय व्यवहार ही सुखानुभव की पहली और अनिवार्य शर्त है। अपने स्वयं के मानसिक सन्तुलन के लिये अथवा अन्य सभी प्राणियों के प्रति आचरित किये जाने वाले समता–भाव में ही धर्म का स्वरूप माना गया है।

इस आधार पर मेरा संकल्प बनता है कि सभी प्राणियों के बीच सभी स्तरों पर विकास का विशिष्ट अन्तर होते हुए भी मैं सभी प्राणियों के अस्तित्व को स्वीकार करूं क्योंकि यदि ऐसा मैं नहीं करूंगा तो मैं अपने अस्तित्व को भी नकारूंगा। अस्तित्व को स्वीकार करने का सीधा–सा अर्थ है कि उसको किसी भी रूप में मैं नहीं सताऊं तथा उसको जैसी भी स्वतन्त्रता की अपेक्षा है उसे मैं बरकरार रखूं या बहाल करूं। वैसी अवस्था में अपने लिये किसी भी प्राणी का हनन कभी भी संभव नहीं होगा। सभी प्राणियों को उस रूप मे दुःख नहीं दूंगा और सुख देने का यत्न करूंगा जिस रूप में मैं दुःख नहीं चाहता हूँ और अपने लिये सुख प्राप्त करना चाहता हूँ।

सुख जो मैं चाहता हूँ और जो सभी प्राणी चाहते हैं, [illegible] दस भेद के रूप में है–(1) आरोग्य (पहला सुख निरोगी काया), (2) [illegible]

शुभ रूप हो, (3) आढ्यत्व–विपुल धन सम्पत्ति का होना (4) काम–इन्द्रियों के शुभ विषयों की प्राप्ति, (5) भोग–शुभ गंध, शुभ रस तथा शुभ स्पर्श का ग्रहण, (6) सन्तोष–अल्प इच्छाओं के साथ चित्त की शान्ति, (7) आस्ति सुख–आवश्यकता के समय पदार्थ की प्राप्ति, (8) शुभ योग–अनिन्दित (प्रशान्त) भोग, (9) निष्क्रमण–सांसारिक झंझटों की फंसावट से निकल कर सदा सुखकारी संयम स्वीकार करना तथा (10) अनाबाध सुख–जन्म, जरा, मरण, भूख–प्यास आदि बाधाओं से मुक्त मोक्ष का सुख।

उपरोक्त दस सुखों को दो भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं–(1) भौतिक तथा (2) आध्यात्मिक। यहाँ यह समझ लें कि इन दोनों वर्गो के सुखों में पारस्परिक विरोध नहीं, अपितु सामंजस्य है। आत्म धर्म का माध्यम शरीर है और शरीर भौतिक पिंड होता है। इस भौतिक पिंड को भी उस सीमा तक सुखी रखना होगा, जिस सीमा तक वह आध्यात्मिक साधना की सफलता का सबल सहयोगी बना रहे। सुख के पहले के पांच भेद भौतिक वर्ग के माने जा सकते हैं तो अन्तिम पांच भेद आध्यात्मिक वर्ग के। यों देखें तो पहले के पांचों सुखों की उपलब्धि के बाद ही अन्तिम पांचों सुखों की खोज और प्राप्ति अधिक सरल, स्वाभाविक तथा स्थायी होगी।

मैं कल्पना करता हूँ कि मुझे ये सुख प्रिय थे और हैं, इनकी मैं अभिलाषा रखता था और रखता हूँ तो उसके साथ ही मैं यह भी कामना करता हूँ कि ये सुख सभी प्राणियों को भी प्राप्त हो तथा इस उद्देश्य से मैं अपने समग्र आचरण को इस रूप में सन्तुलित तथा संयमित बनाऊं कि सबको ये सभी सुख उपलब्ध कराने में मैं किसी भी प्रकार से बाधक न बनूं बल्कि सहायक और सहयोगी बनूं। सबको सुख देने की मैं कामना करूंगा और चेष्टा रखूंगा और सभी इस प्रकार की कामना तथा चेष्टा से प्रेरित होंगे तो भला किसी को भी दुःख क्यों होगा ?

मैं एक और स्थूल तथ्य की ओर सभी प्राणियों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि सुख या दुःख का उद्भव अपने ही मन से होता है–पदार्थ या परिस्थितियाँ तो निमित्त मात्र बनती हैं और मन की एकाग्रता तथा संयमितता सधी हुई हो तो दुःखपरक निमित्तों को भी सुख के कारण रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। विचार ही में सुख होता है तथा विचार ही में दुःख।

संवेदनशीलता का अनुभाव

दूसरे प्राणियों के मन की इच्छाओ को जानना, समझना तथा महसूस करना संवेदनशीलता कहलाती है। जो दूसरा प्राणी वेदता है, वह मैं भी वेदूं–यह है संवेदन। संवेदनशीलता के अनुभाव से आप्लावित होने पर चाहे मैं होऊं या अन्य कोई भी प्राणी हो, एक दूसरे के लिए कुछ ऐसा ठोस कार्य करने की प्रवृत्ति सजग हो उठती है जिससे मन में रही हुई इच्छा की सम्यक् पूर्ति हो या कि मन में रहा हुआ दुःख दूर होकर सुखानुभव सुलभ हो। सच मानें तो संवेदनशीलता से ही समता–भाव का स्रोत उद्भूत होता है।

मेरी यह निश्चित मान्यता है कि मेरे हृदय के भीतर तथा इसी प्रकार सभी मनुष्यों के हृदयों के भीतर संवेदनशीलता का अनुभाव जितना अधिक गहरा, स्वभावगत और स्थायी बनेगा, उतना ही एक अहिंसक समाज का निर्माण सरल बन सकेगा। सच्चा समतामय एवं सुखी समाज वही हो सकता है जिसका एक–एक सदस्य एक दूसरे के प्रति पूर्णतया संवेदनशील बने तथा अपने समस्त व्यवहार में सतत रूप से संवेदनशील बना रहे।

मै कल्पना करता हूँ एक ऐसे समाज की कि जिसमें न शोषण हो और न अराजकता, न अनुशासनहीनता हो और न अशान्ति तथा न पारस्परिक तनाव हो और न कटुता एवं संघर्ष। कैसे हो सकता है ऐसे समाज का निर्माण ?

इस परिप्रेक्ष्य में मैं वर्तमान मानव समाज की कुछ चर्चा करना चाहूँगा। कैसी परिस्थितियॉं हैं आज के इस समाज में और किन दुरावस्थाओं में छटपटा रहा है आज का मानव ? आज जिधर देखें उधर शोषण, दमन और अशान्ति का साम्राज्य दिखाई देता है जो निश्चय ही हिंसामय आचरण से उभरा हुआ है। एक ओर बहुसंख्य समुदाय बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं तक से विहीन होकर अभावों के नित के प्रहारों से दम तोड रहा है तो दूसरी ओर निहित स्वार्थियों को छोटा समुदाय उन लोगों की मेहनत का शोषण करके अपने लिये धन और ऐश्वर्य के अम्बार खड़े कर रहा है। यही नहीं, वह वर्ग अपने स्वार्थो की रक्षा मे राजनैतिक सत्ता पर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कब्जा किये हुए है जिस सत्ता से शोषण की रखवाली में दमन का दौरदौरा भी चलाया जाता है। इन्ही आधारो पर राष्ट्र आपस में टकराते रहते है जिससे सबके सामने विश्व युद्ध का खतरा मंडरा रहा है। कुल मिलाकर सब जगह और सबके मन मे हिंसा का तांडव मचा हुआ है। हिंसा के बल पर ही अपने स्वार्थ पूरे किये जाते है, विषमता बढ़ाई जाती है और अन्याय व अत्याचार का कुचक्र रचा जाता है। सम्यक् [illegible] के पथ से दूर होकर हिंसा का

आचरण करता है तो अभावग्रस्त वर्ग भी विवशता के विक्षोभ में अपनी असफल हिंसा से पीड़ित रहता है। आश्चर्य तो यह है कि श्रेष्ठ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी हिंसा का ही आश्रय लिया जा रहा है और सम्पूर्ण विश्व में हिंसा का नग्न रूप आतंकवाद रक्तपिपासु के रूप में अट्टहास कर रहा है।

और आज का सामान्य जन इस महाहिंसा के कुचक्र में बुरी तरह से पिसा जा रहा है। वह छटपटाता है कि उसका चहुंमुखी दुःख असह्य हो उठा है और उसकी अपने सुख की आशा मृगतृष्णा बन गई है। छोटे से शक्तिशाली वर्ग की अथाह तृष्णाओं के बीच में उसका अस्तित्व तक शून्य बनता जा रहा है। उसकी दुरावस्था पशुओं से भी बदतर हो गई है।

मैं देखता हूँ कि इस सर्वव्यापी हिंसा के कारण ही आज के मानव की यह घोर दुर्दशा है। भंयकर हिंसा से भयावह अशान्ति फैली हुई है और जितनी अधिक अशान्ति फैलती है उतनी ही अधिक भयत्रस्तता एवं अभावग्रस्तता से हिंसक आचरण में बढ़ोत्तरी होती है। हिंसा से अशान्ति और अशान्ति से हिंसा का दुष्चक्र अविरल गति से घूमता ही जा रहा है। इस समूचे वातावरण का जो सर्वाधिक घातक परिणाम सामने है, वह है संवेदनशीलता के अनुभाव का अधिकांश अभाव।

संवेदनशीलता की डोर टूटती है तो मनुष्य मनुष्य से टूटता जाता है–सहृदयता एवं सद्भाव से हीन होता जाता है। सच कहें तो वह मनुष्यता एवं मानवीय गुणों से ही हीन हो जाता है। जब मनुष्यता का ही अभाव होने लगे तो मनुष्य में फूटने वाले 'पशु' के कदाचार को कौन रोक सकता है ? इस दृष्टि से एक हिंसक मनुष्य या समाज को परिवर्तित करने के लिये भी पुनः संवेदनशीलता के अनुभाव को उभारने का सद्प्रयत्न ही करना पड़ेगा। समझिये कि मैं आज के मानव और मानव समाज की दुरावस्था को महसूस करता हूँ तो मुझे ही आगे बढ़कर संवेदनशील बनना होगा, मेरी संवेदनशीलता को दूसरों पर प्रकट करनी होगी तथा अपनी संवेदनशीलता की सहायता से दूसरों की मनोव्यथा एवं पीड़ा मिटानी होगी। इसी प्रक्रिया द्वारा एक–एक व्यक्ति के आश्रय से संवेदनशीलता के अनुभाव का विस्तार करना होगा। इस सहृदय विस्तार को कुछ हृदयहीन निहित स्वार्थी भले ही रोकने की कुचेष्टाएँ करें लेकिन यह निश्चय है कि भावनाभिभूत होकर बहुसंख्यक वर्ग संवेदनशील बनने लगेगा क्योंकि वह समझ जायगा कि उनके व्यथित हृदयों को मिलाने तथा सुख से सुख उपजाने की डोर संवेदनशीलता का अनुभाव ही है।

आज मैं इस तथ्य को देख रहा हूँ कि मनुष्य अपने निज के दुःखो को तो अनुभव कर लेता है किन्तु दूसरों के दुःखों के प्रति वह संवेदनशील नहीं बन पाता है। उसकी यह वृत्ति धीरे-धीरे उसे क्रूरता की तरफ धकेलती रहती है जिसके कारण वह दूसरों के सुखों के प्रति आक्रामक भी हो जाता है। तब उसमे राक्षसी वृत्ति खुल कर खेलने लग जाती है। यही वातावरण हिंसा को सर्वत्र उगाडता है। संवेदनशीलता का अभाव ही हिंसा का मूल है तो संवेदनशीलता का सद्भाव मनुष्य या समाज को अहिंसा की ओर मोड़ता है। जब दूसरों के दुःख भी हमें अपने जैसे लगने लगें, जब दूसरों का रोना चिल्लाना भी हमें अपने रोने और चिल्लाने के समान महसूस हो तो उस समय समस्त वृत्तियॉ तथा प्रवृत्तियाँ अवश्य ही अहिंसामय आचरण की दिशा में अग्रसर बनेंगी। यह मान्य सिद्धान्त है कि अहिंसा को जीवन के समग्र विचार एवं आचार में उतार लेने के बाद स्वतः ही समतामय समाज की आधारशिला पड जायेगी क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने साथियों एवं समस्त प्राणियों के सुख-दुःख के प्रति पूर्णतः संवेदनशील होगा।

मैंने कई बार इस वातावरण में सुखानुभूति ली है कि चाहे परिवार में हो, समाज में हो या राष्ट्र में-यह विचार और व्यवहार सुख उपजाता है कि वहॉ प्रत्येक सदस्य अपने से भी ज्यादा दूसरे सदस्य के सुख-दुःख का ख्याल रख रहा है। ऐसी निष्ठा के बावजूद भी यदि दुःख नहीं मिटाया जा सकता है तब भी वह दुःख दुःख की भांति नहीं अनुभव किया जाता क्योंकि संवेदनशीलता का सुख उसमें समाया हुआ होता है। सबकी मान्यता यही रहती है कि कर्मफल के उदय से जो दुःख भोगना होता है वह तो उस मनुष्य को भोगना ही पडेगा किन्तु उस समय मे उसके साथियों की जो संवेदनशीलता और सहानुभूति उसे प्राप्त हो जाय या होती रहे तो वह उस दुःख को धैर्य और शान्तिपूर्वक सहन कर सकेगा और ऐसा करके वह भावी दुःखों के मूल को ही समाप्त कर सकेगा। इस प्रकार यह संवेदनशीलता का अनुभाव मनुष्य के और समाज के दुःखो को कम करने तथा भावनात्मक दृष्टि से दुःखों का मूल ही समाप्त कर देने के लिये एक रामबाण औषधि है।

मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजन

यह सही है कि संवेदनशीलता का अनुभाव सर्व जन दुःख निवारण के लिये एक रामबाण औषधि है। किन्तु मात्र किसी औषधि के पास मे हाने से रोग का निवारण नही हो जाता है। रोग के निवारण के लिये विधिपूर्वक उस औषधि को ग्रहण करने की क्रिया करनी होती है। उसी प्रकार संवेदनशीलता

स्वतः ही प्रसारित और विस्तारित नहीं हो जाती है। इस अनुभाव के प्रसार और विस्तार के लिये मनुष्यों को अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से विधिपूर्वक विभिन्न क्रियाएँ करनी होगी और सम्पूर्ण हार्दिकता से उन्हें सफलता के शिखर पर पहुँचानी होगी। समुच्चय में मानें तो मनुष्य की क्रियाओं का केन्द्रीकृत प्रयोजन यही होना चाहिये कि वह अपने हृदय में तथा अपने साथियों के हृदयों में संवेदनशीलता के अनुभाव का संचार करे।

मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजन क्या होने चाहिये–यह दूसरी बात है। मैं पहले यह बताना चाहता हूँ कि प्राकृतिक ढंग से ऐसे प्रयोजन कौन से होते हैं। मैं ही अपने लिये सोचूं कि प्रारंभ में ही मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं हो जाता है अतः मैं भी अपने मन, वचन तथा काया की क्रियाओं की सही दिशा नहीं समझता था। इस जन्म में ही नहीं, पहले के कई जन्मों में भी ऐसा ही होता रहा है कि मुझे अपनी क्रियाओं की न तो सही दिशा का ज्ञान था और न ही मैं उनके प्रयोजनों को भलीभांति समझता था। इस अवस्था का मेरी आत्मा की कर्मबद्धता पर दूरगामी प्रभाव पड़ता रहा और मेरा अनेक योनियों में जन्म–मरण चलता रहा।

मैं इस जन्म के प्रारंभ में भी अपने मन, वचन एवं काया की क्रियाओं को इन प्रयोजनों के लिये संचालित करता रहा कि (1) मैं अपने वर्तमान जीवन की रक्षा कर लूं, (2) मैं दूसरों से प्रशंसा, आदर तथा पूजा पाऊं एवं (3) मैं भावी जीवन की उधेड़बुन और वर्तमान में मरण–भय से त्रस्त होकर परम शान्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील बनूं व दुःखों को दूर कर दूं। इन प्रयोजनों के कारण ही मुझे क्रियाओं का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त हुआ। किन्तु खेदपूर्वक मैं यह स्थिति स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैंने और मेरी तरह अन्य प्राणियों ने क्रियाओं के प्रयोजनों का ज्ञान होने के बाद अज्ञानवश उन प्रयोजनों की पूर्ति के लिये हिंसा को ही साधन के रूप में ग्रहण किया। हिंसा के तीनों रूप काम में लिये गये– हिंसा की गई, हिंसा करवाई गई तथा हिंसा का अनुमोदन किया गया।

जो प्रयोजन ऊपर अंकित किये गये हैं, इस संसार में मनुष्यों की क्रियाएँ इनकी पूर्ति हेतु ही अधिकांशतः संचालित होती हैं तथा इन प्रयोजनों की अपेक्षा से ही मनुष्यों की क्रियाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। जैसे हम प्रयोजन सं. 1 को ले लें। मैं जब यह सोचता हूँ कि मैं अपने वर्तमान जीवन की रक्षा करूं तो यह प्रयोजन कोई अनुचित नहीं है, कारण वर्तमान जीवन की रक्षा पर ही मेरा भावी आत्म–विकास आधारित रहेगा। यह एक

प्रकार से ऐहिक जीवन की कामना है। प्रयोजन सं. 2 भी ऐहिक कामना का ही रूपक है कि मुझे प्रशंसा, आदर और पूजा चाहिये। वांछनीय तो यह है कि मैं अपने सत्कार्यों तथा सत्प्रयासों को प्राथमिकता दूं और प्रशंसा, आदर आदि के बारे मे न सोचू। किन्तु यह कामना वहाँ तक भी क्षम्य मानी जा सकती है कि मैं अपनी इस कामना की पूर्ति वस्तुतः अपने सत्कार्यों व सत्प्रयासों के आधार पर ही करता हूँ। प्रयोजन सं. 3 के अनुसार मैं परम शान्ति प्राप्त करूं तथा दुःखों को दूर करूं–यह सर्वथा उचित है किन्तु मात्र उधेड़बुन और भयत्रस्तता से उस दिशा में मुड़ूं उसकी अपेक्षा सम्यक् ज्ञान तथा उन्नत विवेक से उस दिशा में अग्रसर बनूं–यह अधिक समीचीन रहेगा।

मेरी इन प्रयोजनों की पूर्ति हेतु संचालित की जाने वाली क्रियाओं के मूल्यांकन में एक विशेष बात का भी मुझे ध्यान रखना होगा कि उस समय मैं येन केन प्रकारेण वह प्रयोजन पूरा कर लेने का ही यत्न करता हूँ अथवा इसकी पूरी सतर्कता रखता हूँ कि उस प्रयोजन की पूर्ति में संचालित की जाने वाली प्रत्येक क्रिया का रूप तथा अपनाया जाने वाला प्रत्येक साधन शुद्ध और अहिंसक भी होना चाहिये। जब–जब भी इस ओर से मैंने ऑखें मूंदी है तो मेरे पैर बराबर बहके हैं और वे मेरी गति को पीछे मोड ले गये हैं। कई बार ठोकरें खाकर ही मै सही चेतावनी ले सका हूँ कि इन प्रयोजनों की पूर्ति हेतु विधियुक्त क्रिया एवं अहिंसक साधन ही काम में लिये जाने चाहिए, इनकी पूर्ति ऐहिक कामनाओं के वशीभूत होकर नहीं करनी चाहिये तथा बिना अन्य प्राणियों के हितों को किसी भी प्रकार का आघात पहुँचाये बिना इनकी पूर्ति हेतु एक सीमा तक ही आगे बढना चाहिये।

क्रियाओं की विपरीतता

इन विभिन्न प्रयोजनो की प्राप्ति के लिये क्रियाएँ करने वाले मनुष्यों के सामने एक बड़ा खतरा भी मंडराता रहता है। खतरा यह कि वह इन प्रयोजनो को अपने ही स्वार्थों के घेरे मे कैंद कर लेता है याने कि वह कामना करता है कि कुछ भी करके वह 'अपने ही' जीवन की रक्षा करे जोड–तोड मिलाकर झूठी ही सही लेकिन अपने लिये प्रशंसा, आदर और पूजा प्राप्त करें अथवा अन्य प्राणियो के हितो को कुचल कर अपने लिये शान्ति या सुख हथियाने की कुचेष्टा करे। जब प्रयोजन ही समझे जायेंगे किन्तु उनके सदाशय को एवं प्राप्ति की क्रिया की शुभता को ध्यान में नही लिया जायेगा तो वैसे मनुष्य के कदम निश्चय ही हिंसा की ओर बढेंगे। फिर वह विभिन्न प्रयोजनो की प्राप्ति के लिये विभिन्न जीवो की दैहिक हिंसा करेगा, हिंसा

करवायेगा और हिसा का अनुमोदन करेगा। सम्यक् ज्ञान के अभाव में यह जो गलत मोड़ पकड़ लिया जाता है तब क्रियाओं का स्वरूप भी बदल जाता है। वे हिंसक क्रियाएँ बन जाती हैं। इस स्वरूप विकृति को ही क्रियाओं की विपरीतता का नाम दिया गया है।

मेरा अपनी ही क्रियाओं की आलोचना से तथा अन्य प्राणियों की क्रियाओं के विश्लेषण से यह मत बनता है कि हिंसा के रूप में प्रकट होने वाली इस प्रकार की क्रियाओं की विपरीतता सदैव मनुष्य के अपने आत्मविकास तथा मनुष्य समाज के स्वास्थ्य के लिये अहितकारी होती है। हिंसा वृत्ति एवं प्रवृत्ति को अपनाने से मनुष्य एवं समाज की आध्यात्मिकता को भी गहरा आघात लगता है। मैंने महसूस किया है कि हिंसा के महाद्वार से ही मोहजन्य वृत्तियाँ प्रवेश करती हैं और तब आत्मा बंधनग्रस्त होकर अमंगल के अरण्य में भटक जाती है। यह मैं जानता हूँ कि हिंसा का यह एक ही रूप नहीं होता कि किसी जीव का वध कर दिया किन्तु ये सभी हिंसक कार्य कहलायेंगे कि प्राणी के दस में से किसी भी प्राण को चोट पहुँचाई, उसे अपना गुलाम बनाने की चेष्टा की अथवा उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे अपना सेवक बना लिया। ये सारे हिंसक कार्य क्रियाओं की विपरीतता के ही लक्षण होते हैं। कारण, हिंसा ही क्रियाओं की विपरीतता का मापदंड है।

मैं उपरोक्त प्रयोजनों को क्रिया की विपरीतता के साथ जोडूं तो उनका यह रूप बनेगा कि मैं जिस भी कदर जितनी हिंसा होगी करूंगा और अपने वर्तमान जीवन की रक्षा करूंगा। जैसे कि एक तानाशाह अपनी जीवन रक्षा में अनगिनत मनुष्यों का खून बहा देने से भी नहीं हिचकता है। मैं अपने मायावी कुचक्र चलाऊंगा, सत्य का कंठ दबाऊंगा और झूठे आधारों पर जोर जबरदस्ती से ही सही पर अपनी पूजा करवाऊंगा। मैं अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण परम शान्ति पाने तथा दुःख दूर करने के प्रयोजन के लिये भी सही उपाय काम में नहीं लूंगा बल्कि लालसाएँ और संग्रह बढ़ाकर या हिंसा से शासन चला कर शान्ति और सुख प्राप्त करने का गलत यत्न करूंगा। निश्चय है कि हिंसा से मैं किसी भी प्रयोजन की वास्तविकता तक नहीं पहुँच पाऊंगा।

अतः क्रियाओं की इस विपरीतता से मुझे सबक लेना होगा और अन्य प्राणियों को भी समझना होगा कि विपरीत क्रियाओं से सही प्रयोजन कभी पूरे नहीं होंगे। इनसे मात्र अशान्ति ही बढ़ेगी। मुझे चिन्तन करने से बोध हुआ है कि जहाँ क्रियाओं की विपरीतता का मापदंड हिंसा है, वहीं क्रियाओं के

औचित्य का मापदंड अहिंसा है। मैं अपनी हिंसात्मक क्रियाओं को दृष्टा–भाव से देखने के बाद ही जान सका हूँ और यही भाव अपनाने के लिये मैं अन्य प्राणियों से भी निवेदन करता हूँ क्योंकि दृष्टा–भाव से हिसा उसके हिंसा रूप में समझ में आ जाती है तथा एक बार हिसा को हिंसा रूप में समझ लेने के बाद उसे त्याग देने की इच्छा बलवती हो जाती है।

इस प्रकार जीवन के इस दोराहे को यों समझें कि एक राह है हिंसा की और दूसरी राह है अहिसा की। जो अहिंसा की राह पर बढ चलते हैं तो जीवन में अहिसा का विकास हो जाता है और प्रयोजनों की सम्यक् पूर्ति की वस्तुस्थिति बन जाती है। किन्तु क्रियाओं की विपरीतता से जिसके कदम हिंसा की राह पर बढ गये और बाद में वह अपने कदम इस राह से नहीं हटा सका तो समझिये कि उस का भीषण दुष्प्रभाव उसके स्वयं के जीवन पर ही नहीं पडता बल्कि उस दुष्प्रभाव से उसके निकट का सामाजिक क्षेत्र भी कलुषित हुए बिना नही रहता।

वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रभाव

मैंने देखा है कि क्रियाओं की समुचितता अथवा क्रियाओं की विपरीतता का अपना–अपना प्रभाव दूरगामी होता है जो उन क्रियाओं के कर्त्ता के अलावा सारे समाज पर भी न्यूनाधिक रूप में अवश्य पडता है। यह तो निश्चित ही है कि उन क्रियाओं का कर्त्ता उनसे पूर्णतया प्रभावित होता ही है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाएँ व्यापक रूप से वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रभाव छोडती हैं।

एक बात और कि संसारी मनुष्य का मूल बुराई में रहा हुआ होता है जिस कारण अच्छाई की अपेक्षा बुराई जल्दी और ज्यादा फैलती है। इस दृष्टि से क्रियाओ की विपरीतता का दुष्प्रभाव स्वयं पर और लोगो पर तेजी से फैलता है। एक व्यक्ति जब अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण हिंसापूर्ण कार्यो में प्रवृत्त होता है तो वह उस हिसा के द्वारा अपने ही स्वार्थो की पूर्ति करना चाहता है। उसकी इस चेष्टा में वह अन्य प्राणियों के हितों को कुचलता है। तब वह अपने दया भाव को छोडता रहता है तथा क्रूर बनता जाता है। अपने क्रूर व्यवहार से वह अपने लिये अधिकाधिक सम्पत्ति एवं सुख सुविधाओ की सामग्री का संग्रह करता है। उस संग्रह के प्रति तथा उस संग्रह के सहायकों के प्रति उसका राग भाव प्रबल होता है तो उसमें बाधा डालने वालों के प्रति द्वेष भाव से वह ग्रस्त हो जाता है। राग और द्वेष की प्रबलता से वह मोह, ममत्व तथा स्वार्थपोषण के घेरों में बंद हो जाता है। यही उसका

जटिल मूर्च्छा भाव बन जाता है। उस समय वह मानवीय गुणों को भुला देता है, बल्कि आत्मविस्मृत भी बन जाता है। उसकी वह आत्मविस्मृति उसके निकट सम्पर्क में रहने वाले व्यक्तियों में पहले और उन व्यक्तियों के माध्यम से सारे समाज में अपना कुप्रभाव फैलाती रहती है याने कि अधिकाधिक व्यक्ति हिंसा का आचरण करने लगते हैं और मोह–ममत्व के वशीभूत होते हुए मूर्च्छा को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार फैलता हुआ राग–द्वेष का दावानल समाज के स्वस्थ विकास को भस्म करता रहता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि मैं भी ऐसे दावानल में जला हूँ क्योंकि उस समय क्रियाओं की विपरीतता मेरे व्यक्तित्व की अंग रूप बन गई थी। हिंसा से मेरा व्यक्तित्व विकृत हो गया था तथा मेरे जीवन का दुःखात्मक आधार बन गया था। मेरे जीवन की ऊर्जा ऊर्ध्वगामी होने की बजाय अधोगामी बन गई थी। मुझे प्रतीत हुआ कि हिंसापूर्ण आचरण से ऐसी पतनकारक दशा बनती ही है, फलस्वरूप मेरी चेतना सिकुड़कर अनुभूतिशून्य ही बनने लगी थी।

स्व–स्वरूप का विस्मरण ही मूर्च्छा

अपनी चेतना की अनुभूति–शून्यता से मैं भूल गया कि मेरी आत्मा का मूल स्वरूप क्या है, उसके निज गुणों की शुभता कैसी होती है तथा आत्मा के वर्तमान स्वरूप को क्रियाओं की समुचितता, अहिंसा की कार्यन्वितता एवं मानवीय पुरुषार्थ की सक्रियता से किस प्रकार परमोज्ज्वल बना सकते हैं ? मैं तो तब मनुष्य से भी पशु और पशु से भी राक्षस बनता जा रहा था, क्योंकि मेरी अधिकांश वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ सांसारिक पदार्थों के आसक्ति भाव में डूबकर मूर्च्छाग्रस्त हो रही थी। मुझे ज्ञान ही नहीं रह गया था, यह ज्ञान करने का कि जिस राह पर मैं चलने लगा हूँ, वह मुझे कौनसे महाविनाश के गर्त्त में पहुँचा कर जन्म–जन्मान्तरों के चक्र में तिरोहित कर देगी ?

मेरी यह ज्ञान चेतना विलुप्त सी हो गई थी कि स्व–स्वरूप का विस्मरण ही मूर्च्छा है। मूर्च्छितावस्था में मैं यह नहीं जान सका कि मुझे संसार में अपनी आत्म विकास की महायात्रा चलाते हुए मात्र जल पीना चाहिये, किन्तु मैं तो मोह मदिरा पीकर मतवाला हो गया था। उस मतवालेपन में मैंने कितने प्राणियों के हितों को कुचला, कितनों का अनिष्ट किया, कितनों के प्राणों का हनन किया, मुझ को कुछ भी याद नहीं है। मैं स्व–स्वरूप को ही विस्मृत कर गया तो भला मुझे अपना वह राक्षसी रूप याद भी कैसे रहता ?

मैंने अपनी विपरीत क्रियाओं से अपने स्व–स्वरूप पर कर्मबंधनों के काले लेप चढ़ाये, सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण में विषमता का विष घोला और

नारकीय परिस्थितियों का निर्माण कर दिया। मै अपनी अशुभता के ऐसे दलदल मे फंस गया था कि इस गंदे कीचड़ के छींटे सब ओर फैल रहे थे। मेरी निकृष्ट व्यक्तिगत अवस्था ने सामाजिक परिस्थितियों में भी दुःखों के द्वन्द्व खडे कर दिये थे। मैं परिग्रह के संग्रह मे अंधा बना हुआ था तो परिग्रह के मोह को मैं चारो ओर भी फैला रहा था। मैं अपने आत्मिक अस्तित्व तक को भी भुला चुका था और समझ बैठा था कि यह संसार ही मेरे लिये सब कुछ है, अतः अपने शरीर का ही पोषण करूं, अपना ही आधिपत्य बढ़ाऊं और अपने को ही सम्पत्ति तथा सत्ता के शिखर पर चढ़ा दूं।

वास्तविक रूप में स्व-स्वरूप तथा स्व-अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है-यह सत्य मैं बहुत बाद में जान पाया, जब उस मूर्च्छा के कुप्रभाव से प्राप्त दुःखों के अपार बीहड को ठोकरें खाते, लहूलुहान होते और सांघातिक आघातों से खोई हुई चेतना के कुछ-कुछ जागते हुए पार कर पाया। तब मैंने महसूस की थी अशान्ति की घोर पीड़ा, जागरूकता की अस्तित्वहीनता और समता भाव की दरिद्रता, क्योंकि तब मेरी चेतना जागृति की करवट लेने लगी थी।

जागृति की उस धीमी सी करवट में ही मुझे अनुभूति हुई थी तथा मैं अपने विकृत अतीत पर एक नजर फेंक सका था। मुझे तब प्रतीत हुआ था कि मैं अपने आप से छिटक कर कितना दूर मूर्च्छितावस्था मे गिरा हुआ था। मैं स्व-स्वरूप के विस्मरण के साथ ही अहिंसा पर आधारित मूल्यों तथा अध्यात्म के ज्ञान को भूल चुका था और इन्द्रियों व मन के घृणित विषयों में ग्रस्त हो गया था। काम भोगों की लालसाओं में मेरी आसक्ति बहुत गहरी थी और मैं अपनी लालसाओं को पूरी करने के लिये कुटिल आचरण मे रत रहता था।

तब मैं यह सोच-सोच कर ग्लानि से भर उठता था कि मैं वीतराग देवों की आज्ञा के विरुद्ध चला तथा स्व-अस्तित्व को विसार गया। अपनी विपरीत वृत्ति के कारण मैं दुःख देने वाले तत्त्वों को सुख देने वाले तथा सुख देने वाले तत्त्वो को दुःख देने वाले समझने लगा था और अज्ञानवश शुभ को अशुभ तथा अशुभ को शुभ मानने लगा था। मेरी विषयो मे लोलुपता तथा पदार्थो मे आसक्ति इस कदर बढ़ गई थी कि मै हिंसामय आचरण, राग-द्वेष, वैर-विरोध और मोह-ममत्व की अंधी गलियो मे बुरी तरह भटक गया। मूर्च्छा से अंधा बनकर मै अपनी वासनामय इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्राणियो को मारने वाला, छेदने वाला, उनकी स्वतन्त्रता को कुचलने वाला तथा उनको हर तरह

से आघात पहुँचाने वाला वन गया था।

मैं अपनी उस मूर्च्छागरी दुरावस्था को याद कर–कर के पश्चात्ताप करता हूँ कि जब मेरी इच्छाएँ तृप्त नहीं होती थी तो मैं और अधिक निर्दयी हो जाता था। मैं अधिक शोक सन्तप्त होता था, अधिक क्रोध करता था, अधिक प्रतिशोध लेता था और अन्य प्राणियों को अधिक सताता था। सतत हिंसा के क्षेत्र में कुकार्यरत रहने के कारण मै अधिक भयभीत भी रहता था। प्रमाद की गहराई में डूबकर मैं मानसिक तनावों से त्रस्त रहता था, किन्तु दोगला व्यवहार करता था। बाहर से गैं अपने आपको बहादुर और निर्भीक जाहिर करता था जबकि हर समय मैं चारों ओर के भय से डरा हुआ रहता था। बाहर से अपने को शान्त दिखाने का ढोंग करता था जबकि भीतर के तनाव मुझे प्रतिपल अशान्त बनाये रखते थे। दुनिया के सामने मेरे द्वारा दिखाया जाने वाला ढोंग ऐसा ही था जैसे कोई रस्सी से बंधी चालनी को कुए में डाल कर वहां से पानी निकालते रहने का ढ़ोंग करे। वस्तुतः मैं संसार रूपी प्रवाह में तैरने के लिये कतई असमर्थ हो गया था। इसका कारण साफ था कि मैं सदा और सर्वत्र जघन्य कामभोगों का ही अनुमोदन करता रहता था जिसके परिणाम स्वरूप मैं दुःखों के भंवर में ही गोते लगाता रहता था। मेरी चेतना की निरन्तर विकसित होती हुई उस जागृति ने मुझे आत्मालोचना की शिक्षा दी और मूर्च्छित मनुष्यों के संसर्ग से बाहर निकल जाने की मुझे प्रेरणा दी और इसी प्रेरणा ने मेरी गति को नया बल दिया कि वह आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़े।

मैं आज स्वानुभव के आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मनुष्य जब अपने ही मूल स्वरूप तथा अपने ही अस्तित्व को भूल जाता है तब वह वे सब अनर्थ करने पर उतारू हो जाता है जो उसे सांसारिकता की विकृत परतों में समेट लेते हैं। वह स्वयं भी मोह–ममत्त्व से लिप्त होकर तथा राग–द्वेष व प्रमाद के बंधनों से बंधकर इतना मूर्च्छा–ग्रस्त हो जाता है कि कालिमामय उन परतों को छेद कर उसका पुनः बाहर आना असाध्य नहीं तो दुसाध्य अवश्य हो जाता है।

मैंने इस सत्य को भी जाना है कि इस संसार की दलदल में फंसे हुए लोगों में से कुछ मनुष्य ऐसे संवेदनशील होते हैं जो किसी भी निमित्त से जागृत होने वाली अपनी चेतना के बल पर अपनी मूर्च्छा को अन्ततोगत्वा तोड़ ही देते हैं। एक बार मूर्च्छा टूटती है और आदमी अपने आपे में आता है तो उसके ज्ञान और विवेक के द्वार भी खुल जाते हैं। फिर यह उसकी जागती

हुई चेतना के बलाबल पर ही निर्भर करता है कि आत्म विकास की महायात्रा मे उसकी गति का क्या स्वरूप बनता है।

अज्ञान, आसक्ति और ममत्व

मै आज जब अपनी आत्मालोचना के क्षेत्र में खड़ा हूँ तो मै चाहता हूँ कि अज्ञान, आसक्ति एवं ममत्व की अपनी कुंठाओं को याद करूं, उनकी पतनकारी पकड से चेतूं तथा इन आत्मघाती वृत्तियों से अपने साथियों को भी सावधान बनाऊं।

मुझे याद है कि अज्ञान का अंधेरा कितना विकट होता है। उसमें आंखें खुली हुई हो तब भी देख पाना संभव नहीं होता। हाथ पैरों के मजबूत होते हुए भी वे गड्ढे मे गिरा कर हड्डियाँ तुड़वा देते हैं। न जानना इतना बड़ा खतरा होता है जो मौजूद सामर्थ्य को भी समाप्त कर देता है। अज्ञान सामर्थ्य घातक होता है। अज्ञानवश हम भूल जाते हैं कि आयु बीत रही है, यौवन समाप्त हो रहा है, फिर भी कामभोगों की आसक्ति में और सांसारिक सम्बन्धो व पदार्थो के ममत्व में फंसे रहते हैं। बुढापे के असह्य कष्ट हमें चारों ओर से घेर लेते हैं, मौत आ जाती है तब हम हतप्रभ से रह जाते हैं कि हमने यह क्या कर दिया ? महान् पुण्योदय से जो दुर्लभ मानव जीवन एवं अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ मिली थी, उन्हे हमने निरर्थक ही खो दी हैं। मृत्यु के मुख में किये हुए उस पश्चात्ताप से मानव जीवन पुनः नहीं लौट पाता और हम एक महान् अवसर को खो देते हैं।

मेरी धारणा बन गई है कि स्व–स्वरूप एवं स्व–अस्तित्व के प्रति उपजा हुआ अज्ञान ही मनुष्य को आसक्ति के विकार की ओर धकेलता है। संसार के कामभोगो में लिप्त हो जाने का नाम ही आसक्ति है। यह आसक्ति आत्मगुणो का विनाश करने वाली होती है। रूप में तीव्र आसक्ति रखने वाला मनुष्य उसी प्रकार असमय मे ही विनाश को प्राप्त होता है जिस प्रकार रागातुर पतगा दीपक की लौ मे मूर्च्छित होकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। संगीत मे मुग्ध होकर अतृप्ति के साथ मारे गये हिरण के समान शब्दो में अत्यन्त आसक्त बना मनुष्य अकाल मे ही विनष्ट हो जाता है। गंध मे रखी जाने वाली तीव्र आसक्ति मनुष्य को नागदमनी की सुगंध मे मूढ होकर बिल से बाहर निकल आने पर मारे गये सर्प के समान मृत्यु का मुख देखना पडता है। रसवश मांस के स्वाद मे मूर्च्छित हुई मछली जैसे कांटे मे फंसकर मारी जाती है उसी प्रकार रसो के आस्वादन मे गहरी आसक्ति रखने वाला मनुष्य अपनी मौत खुद बुलाता है। मनोहर स्पर्शो मे तीव्र आसक्ति रखने वाला मनुष्य

रागवश शीतल जल में सुख से बैठे हुए भैंसे का मगर द्वारा मारे जाने के समान अपने प्राणों को खो देता है। काम–वासना में गृद्ध बन कर हथिनी का पीछा करने वाला रागाकुल हाथी जिस दयनीय दशा से रणस्थल पर मारा जाता है, उससे भी अधिक दयनीय दशा में विपयातुर मनुष्य अपनी जीवन लीला समाप्त करता है। इस प्रकार इस लोक में जो मनुष्य सांसारिक सुखों के पीछे पड़े रहते हैं, परिग्रह, संग्रह, रसास्वादन एवं स्पर्श सुखों में तीव्र आसक्ति रखते हैं तथा काम–भोगों में मूर्च्छित बन जाते हैं, वे कायर और धृष्ट कहलाते हैं। ऐसे मनुष्य धर्म ध्यान रूपी समाधि को नहीं समझते, श्रेष्ठ अनुष्ठानों का सेवन नहीं करते और गहरी आसक्ति की तेज मदिरा से मूर्च्छित बने रहते हैं।

मैं श्रद्धापूर्वक आप्त वचनों का स्मरण करता हूँ जहाँ कहा गया है कि यह मूर्च्छा ही संसार है। यहाँ पर जो मूर्च्छित मनुष्य है, वह दुष्चरित्रता का स्वाद लेने वाला तथा कुटिल आचरण करने वाला है। साथ ही यह भी कहा गया है कि मूर्च्छा ही परिग्रह है अर्थात् धन सम्पदा के प्रति जो ममत्व भाव होता है–भाव परिग्रह वही है पदार्थ परिग्रह गौण होता है। इन दोनों ही परिग्रह से मुक्त होना आवश्यक है।

मैंने अज्ञान से आसक्ति तथा आसक्ति से ममत्व की प्रक्रिया देखी है। सम्यक् ज्ञान के अभाव में मनुष्य की क्रियाएँ समुचित रूप ग्रहण न करके विपरीत हो जाती है और वह विपरीतता ही आसक्ति को पनपाती है। मन और इन्द्रियों द्वारा भोगी जाने वाली विषयवस्तुओं में वृद्धि को ही आसक्ति कहते हैं अतः आसक्तिवश उपजने वाली लालसाओं की पूर्ति के लिये सम्पत्ति और सत्ता की आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति के लिये मनुष्य धन सम्पत्ति प्राप्त करने की दौड़ भाग करता है। उसके मन में ममत्व भाव बड़ा गहरा हो जाता है। आसक्ति की मूर्च्छा ममत्व की मूर्च्छा के साथ मिल कर बेहोशी को दस गुनी बढ़ा देती है। वैसी दशा में मनुष्य इस संसार में सम्पत्ति और सत्ता पाने की होड़ में बेतहाशा भागने लगता है। वह ममत्व ही उसके मन में बसा हुआ जटिल परिग्रह बन जाता है। वह बावरा हो उठता है कि चाहे क्रूर से क्रूर साधन हो, वह सम्पत्ति और सत्ता अर्जित करे, लोगों पर अपनी हकूमत चलावे और अपनी पूजा व प्रतिष्ठा करावे। अज्ञान, आसक्ति और ममत्व की त्रिपुटी मनुष्य की चेतना को शिथिल और म्लान बना देती है, समाज में तृष्णा का ज्वर फैलाती है और उस आत्मा को कर्मबंधन में जकड़ लेती है।

सांसारिकता के बीज : राग–द्वेष

अज्ञान, आसक्ति और ममत्व का विषवृक्ष जो दिखाई देता है उसका ही दूसरा नाम संसार कहा गया है। इसके बीज माने गये हैं–राग और द्वेष।

राग और द्वेष की मौजूदगी का साफ मतलब माना जाना चाहिये कि वहाँ समता भावना का सामान्यतया अभाव है।

किसी भी सांसारिक सम्बन्ध को अथवा पदार्थ को मैं अपने लिये प्रियकारी व सुखकारी मानता हूँ याने कि मैं चाहता हूँ तो उसके प्रति मेरी चाहना का भाव राग कहलाएगा। मेरे राग भाव को जो भी समर्थन देगा अथवा उसका अनुमोदन करेगा उसके प्रति भी मेरा राग भाव पैदा हो जाएगा। इसके विपरीत जो मेरे द्वारा वांछित सम्बन्ध या पदार्थ की प्राप्ति में बाधा डालता है अथवा मेरे क्रियाकलापो का विरोध करता है, उसका भी मैं विरोधी हो जाऊंगा याने कि उसके प्रति मेरा द्वेष भाव जाग जायेगा। संसार के किसी भी प्राणी के प्रति उपजने वाले भावों मे अधिकांशत. मनुष्य के मन मे तो राग रहता है अथवा द्वेष। सम्पर्क और संसर्ग से दोनों प्रकार के काषायिक भाव पैदा होते है और परिस्थितियो के बदलने के साथ बदलते रहते है।

मैंने महसूस किया है कि राग और द्वेष के भावों में मनुष्य का मन इतनी बुरी तरह से डोलायमान होता रहता है कि वह राग–द्वेष की दुर्भावनाओं से ग्रस्त रहकर अनर्थकारी कृत्य करता रहता है। राग और द्वेष सांसारिकता के बीज रूप होने से कर्मबंध के मूल कारण होते है। कर्म जन्म–मृत्यु का मूल हेतु है और जन्म–मृत्यु को ही दु.ख कहा जाता है अतः राग और द्वेष दु.ख के भी मूल कारण है। जैसे जगल मे दावाग्नि से प्राणियों के जलने पर राग–द्वेष के वश होकर दूसरे प्राणी प्रसन्न होते हैं किन्तु वे यह नही जानते कि आगे बढती हुई दावाग्नि उन्हे भी भस्म करके छोडेगी। उसी प्रकार काम–भोगो की आसक्ति मे डूबे अज्ञानी प्राणी यह नहीं जानते कि ससार में राग–द्वेष की भावनाओ का जो दावानल जल रहा है, हम असावधान रहे तो हमें भी भस्म कर देगा। इस विचारशून्यता के कारण ऐसे मनुष्य उस दावानल से बचने का कोई यत्न नही करते है। अनियन्त्रित राग और द्वेष आत्म गुणो का इतना संहार करते है जितना कि एक समर्थ शत्रु भी किसी मनुष्य का सुरक्षा सम्बन्धी अहित नही कर सकता है। सबसे बडी बात तो यह है कि काम भोग अपने आप किसी मनुष्य मे विकृति पैदा नही करते–ये तो मनुष्य के राग–द्वेष रूप मोह भाव होते हैं जिनमे जकड कर वह अपने आपको विकारों का पुतला बना लेता है।

आत्म स्वरूप पर राग–द्वेष के ऐसे घातक प्रभाव का उल्लेख करते हुए वीतराग देवो की वाणी मेरे हृदय मे उतरी है कि जो मनुष्य राग–द्वेष से

रहित होता है, वही कसौटी पर कसे हुए और अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए सोने के समान निर्मल माना जाता है। जो राग–द्वेष को त्याग कर समभाव अपनाता है, वही निजात्मा द्वारा अपने आत्मस्वरूप को जानने वाला होता है। जो साधु राग और द्वेष का सबल विरोध करता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता। यदि राग द्वेष न हो तो इस संसार में न कोई दुःखी होगा और न कोई सुख पाकर ही विस्मित ही होगा बल्कि सभी मुक्त हो जायेंगे। वस्तुतः सुखमय मोक्ष प्राप्त करने का एकान्त रूप से मार्ग बताया गया है कि अज्ञान और आसक्ति को त्यागें, राग और द्वेष को क्षय करें तथा सत्य ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर लें।

मैंने सांसारिकता में रच–पच कर कई बार कटु अनुभव लिये हैं कि द्वेष और राग का क्रमिक रूप से आत्मस्वरूप पर कितना भारी दबाव पड़ता है। जब मैं देखता था कि मेरी इच्छाओं की पूर्ति में कोई बाधा दे रहा है तो उसके प्रति मेरा द्वेष भाव जटिल बन जाता था। वह द्वेष मुझे हिंसा और प्रतिहिंसा के चक्र में ऐसा घुमाता था कि अन्त सर्वविनाश के सिवाय कुछ नहीं होता। इस द्वेष से भी राग भाव मेरे मन में बड़े गाढ़ेपन से समाया हुआ रहता था। मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा भवन, मरी ऋद्धि–सिद्धि और मेरे मनोज्ञ पदार्थ–उनके प्रति सदैव मैं राग भाव से प्रभावित और प्रलुब्ध बना रहता था। राग भाव क्रिया थी और द्वेष भाव उसकी प्रतिक्रिया। मैंने महससू किया कि द्वेष से भी राग बहुत जटिल होता है। द्वेष छोड़ भी दें मगर राग भाव छोड़े नहीं छूटता और जब तक द्वेष और राग न छूटें अथवा कम भी न हों तब तक समता भाव का अन्तर्हृदय में प्रसार कठिन ही रहता है। पूर्णतया राग भाव को छोड़ देना आत्म विकास की महायात्रा की एक महान् उपलब्धि मानी गई है, तभी द्वेष के बाद राग का सर्वांशतः त्याग कर देने वाले महात्मा को वीतराग कहा गया है।

यह वीतरागता प्राप्त होती है जब राग और द्वेष के बीजों को पूरी तरह नष्ट कर दें याने कि तब वीतराग देव अपनी सांसारिकता को ही समाप्त कर देने के किनारे पर पहुँच जाते हैं। अतः अपने संसार को समाप्त करना है, अज्ञान, आसक्ति एवं ममत्व के विष–वृक्ष का मूलोच्छेदन करना है और आत्मा का उच्चतम विकास साधना है तो सबसे पहले राग और द्वेष रूपी भावनाओं के द्वन्द्व के बीजों को समाप्त कर दें। बीज नहीं रहेगा तो कैसे टिकेगा वृक्ष ?

आकाश के समान अनन्त इच्छाएँ

मैने अनुभव किया है कि मेरा अनियंत्रित मन बेलगाम घोडे की तरह जितनी उच्छृंखलता से चारो ओर उद्देश्यहीन बनकर भागता रहता था और साथ मे मेरी चेतना को घसीटता रहकर उसे मर्माहत बनाता था ? पांचों इन्द्रियों की उद्दाम कामनाओं का बोझ मन अपने ऊपर ले लेता था और अपनी झूठी-मीठी कल्पनाओ मे अनन्तानन्त इच्छाओं को जगा लेता था। तब वह मेरा मन इतना भी विचार नही कर पाता था कि क्या सारी इच्छाओं की पूर्ति सम्भव भी हो सकेगी ?

मैने जब अपने मन और अपनी इन्द्रियों की इस उच्छृंखलता का विश्लेषण किया तो मै उसके कारणो की खोज भी कर सका। मैं देखता था कि तुरन्त जन्मे शिशु का मन सामान्यतया निर्दोष होता है। इससे अधिक वह कुछ नही जानता जो कि उसने गर्भकाल मे सीखा हो। बालक को इसी कारण पवित्रता की मूर्ति मानते है। किन्तु बालक जब इस संसार के वातावरण मे बडा होने लगता है तब वह प्रपच प्रचलित वातावरण को अपने मन और अपनी इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण करने लगता है। और यहीं से उसके अपवित्र होने का काम भी शुरू हो जाता है। उसके शुद्ध मन और साफ इन्द्रियों पर राग और द्वेष की मैली परते चढने लगती है। इस रूप मे यह माना जायगा कि बाह्य जगत् से सम्पर्क जितना बढता जाता है और गाढा होता जाता है, वह बडा होता हुआ बालक सांसारिकता की कालुषपूर्ण रीति–नीति मे ढलता जाता है। अपने परिवार, समाज और राष्ट्र मे वह जिन रंगों को फैलते हुए देखता है, अपने मन–मस्तिष्क को भी उन्ही रंगो से रंग लेता है। ये रंग होते है राग और द्वेष के रंग जो अज्ञान, आसक्ति एवं ममत्व की तरफ खींचते है, क्योंकि इन्ही रंगो से जन्म लेता है इच्छाओ का वह इन्द्रधनुष– जो मायावी होता है तथा जिसके मनहरे रंगो को पकडने के लिये मनुष्य बचपन से लेकर मृत्यु तक का अपना सारा अमूल्य समय बरबाद कर देता है।

मैने देखा है कि इन्द्रधनुष के इन्ही मायावी रंगो के लिये मनुष्य के मन मे राग जागता है। तब वह उसके गाढेपन के साथ उन रंगो को याने कि नश्वर जड पदार्थो को प्राप्त कर लेने के लिये अपनी दुर्लभ प्राप्तियो को दाव पर लगा देता है। इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती है और मनुष्य अपनी समस्त शक्तियो का दुरुपयोग करके भी जब किसी इच्छा की ज्योही पूर्ति कर लेता है, त्योही दूसरी इच्छा उसके सामने आ खडी होती है और वह इच्छा एक नही अनेक रूपिणी होती है। एक इच्छा पूरी की जाय और कई अपूर्ण

इच्छाएँ सामने आकर खड़ी हो जांय– फिर उनकी पूर्ति के लिए मनुष्य संघर्ष करता रहे और संघर्ष करते हुए पूरा जीवन भी खपा दे तब भी क्या वह अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति कर सकेगा ? फिर भी राग–द्वेष की प्रबलता ऐसी होती है कि कई मनुष्य पूरा जीवन खपा कर भी शिक्षा नहीं लेते।

राग और द्वेष के वशीभूत होकर जब मूर्च्छाग्रस्त मनुष्य वस्तुओं के संग्रह में प्रवृत्त होते हैं तो उनकी वितृष्णा एक समभावी को देखते नहीं बनती। वे वीतराग देव के उपदेशों को सर्वथा भुला देते हैं कि किसी वस्तु पर मूर्च्छा–ममत्व और आसक्ति का होना ही वास्तव में परिग्रह है। ऐसे भाव परिग्रह के परिणाम स्वरूप द्रव्य परिग्रह की तनिक सी प्राप्ति उस मनुष्य की आसक्ति को मदिरा की तरह बहुत बढ़ा देती है। जैसे शराब पीना शुरू करने वाला आदमी नित प्रति शराब की मात्रा बढ़ाते रहने पर भी कभी तृप्त नहीं होता, उसी तरह भाव परिग्रह से ग्रस्त मनुष्य आकाश के समान अनन्त इच्छाओं के दौरादौर में वस्तुओं का महा–संग्रह कर लेने के बाद भी तृप्त नहीं होता। 'और चाहिये' की उसकी धुन खत्म ही नहीं होती है। इसी कारण उपदेश की धारा प्रवाहित हुई है कि जो व्यक्ति थोड़ी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से रखता है अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह दुःखों से छुटकारा नहीं पाता है। अनासक्ति भाव से वस्त्र–पात्रादि रखने में परिग्रह नहीं बतलाया गया है किन्तु यदि इन वस्त्र–पत्रादि में भी साधु का आसक्ति भाव हो जाता है, तो वे उस साधु के लिये परिग्रह रूप हो जाते हैं। चाहे साधु हो या गृहस्थ–जब परिग्रह आता है तो अन्य अवगुण भी उसके साथ आने लगते हैं। सम्पूर्ण संसार में सभी जीवों के लिये परिग्रह जैसा दूसरा बंधन नहीं है। परिग्रह–बुद्धि से ही अनन्त इच्छाएँ और वासनाएँ भड़कती रहती हैं और मनुष्य को राग–द्वेष पूर्ण दावानल में भस्म होने के लिये मजबूर करती रहती हैं।

तृप्ति व अतृप्ति की कुंठाएँ

कामभोगों की अनन्त इच्छाओं की पूर्ति मनुष्य के एक जन्म में तो क्या अनन्त जन्मों में भी संभव नहीं है–ऐसा मेरा स्वानुभव का विश्वास है। इस कारण इस जन्म में कोई कितना भी बड़ा वस्तु–संग्रह कर ले तब भी अतृप्ति तो उसके मन–मानस में छाई हुई रहेगी ही। जो इच्छाएँ पूरी हो गई हैं अथवा जिन इच्छाओं के अनुसार वस्तुओं का संयोग मिल गया है–आश्चर्य की वस्तुस्थिति यही है कि उन प्राप्तियों से तृप्ति नहीं मिलती, कारण प्राप्त तृप्ति से अतृप्ति की काली छाया इतनी बड़ी होती है कि उसमें तृप्ति का अस्तित्व

ही विलुप्त हो जाता है। फिर भी इन तृप्तियों और अतृप्तियों से भयकर एव अथाह कुंठाए जन्म ले लेती हैं जिनके कारण समझने बूझने के उपरान्त भी मनुष्य का ज्ञान और विवेक सामान्यतया पुन: जागृत नहीं हो पाता।

मुझे याद है कि ऐसी ही अज्ञान एव अविवेक की मन:स्थिति में विभ्रमित करने वाले कैसे-कैसे परिग्रह के प्रलोभनों को मैंने झेला है तथा इच्छाओं के दबाव को बर्दाश्त किया है। फिर भी हाथ और कुछ तो नहीं लगा-हाथ लगी मात्र कुंठाऐं, जिन्होने मेरे व्यक्तित्व को इस तरह मथ कर रख दिया कि दीर्घकाल तक मैं कोई सदाशयी विचार ग्रहण कर सकने तक में समर्थ नहीं रहा। धीरे-धीरे कुंठाओं का जोर जब कम होने लगा तो मैंने अतीत की ग्लानि के साथ भविष्य पर चिन्तन आरंभ किया। मिथ्या विचारो का मैंने त्याग किया। व्रतों की गहराई में जब मैं आगे बढ़ा तो मैंने अपनी इच्छाओं को बांधने का प्रयास किया क्योंकि अनियंत्रित इच्छाओ से उपजी कुंठाओ की यंत्रणा को मैं भोग चुका था। वीतराग देव द्वारा उपदेशित व्रत ने ही मेरी चेतना की रक्षा की और वह व्रत था इच्छा परिमाण व्रत अर्थात् खान-पान, वस्त्र, वाहन आदि की छोटी से छोटी इच्छा को भी सीमा के बंधन में बांध लो। जो सीमा सोच कर निर्धारित कर ली है-वस्तुओ की कितनी ही विपुलता हो जाय तब भी उस सीमा का उल्लघन मत करो-यह है इच्छा परिमाण व्रत। परिग्रह परिमाण याने कि क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, कांसा, पीतल, तांबा आदि धातु और घर की समस्त सामग्री तथा खान-पान, उबटन, स्नान, वस्त्र, वाहन आदि सभी की एक मर्यादा ग्रहण कर लेना इस व्रत का उद्देश्य है। एक शब्द मे कहे तो मनुष्य की मूर्च्छा और तृष्णा को घटाने और सन्तोष को ग्रहण करने तथा आवश्यक पदार्थो व परिग्रह का सारे समाज मे विकेन्द्रीकरण होते रहने में इस व्रत की अपार उपयोगिता है।

मैंने देखा है कि इच्छाओ के अनियंत्रित रहने की अवस्था मे अतृप्ति की कुंठाऐं बहुत तीखी होती है। इन्ही कुंठाओ से तृष्णा बढ़ती जाती है और मोह गाढ़ा होता जाता है। तृष्णा से मोह तथा मोह से तृष्णा का ऐसा चक्र चल पड़ता है जिसकी मार से दीर्घकाल तक आहत होना पड़ता है तथा जन्म-जन्मान्तर का दु:ख भोगना पड़ता है। कहा गया है कि जिसके मोह नही रहता, उसके दु:ख नष्ट हो जाते है और जिसके तृष्णा नही रहती, उसका मोह नष्ट हो जाता है। मूर्छाजन्य तृष्णा की ऐसी दशा होती है कि धन, धान्य, स्वर्ण, रजत आदि समस्त पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि एक मनुष्य के अधिकार मे दे दिया जाय तब भी वह तृप्त और सन्तुष्ट नहीं होगा.

यह एक शाश्वत सत्य है। कारण, ज्यों–ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों–त्यों लोभ भी बढता जाता है। लाभ ही लोभ वृद्धि का कारण होता है। कथा है कि दो मासे सोने से होने वाला कपिल का कार्य लोमवश करोड़ों से भी पूरा नहीं हो सका। यदि सारा संसार और सम्पूर्ण सम्पत्ति व सत्ता भी मेरी हो जाय, तब भी वह मेरे लिये अपर्याप्त ही रहेगी क्योंकि मेरी तृष्णा का अन्त नहीं होता। दूसरे, इतनी सम्पत्ति और सत्ता भी अन्ततः मेरी रक्षा करने में अयोग्य ही सिद्ध होगी। जब तक मेरे मन में तृष्णा और लोभ समाया हुआ रहेगा तब तक कैलाश पर्वत के समान सोने–चांदी के असंख्यात पर्वत भी मेरे मन को तृप्त नहीं कर सकेंगे।

सांसारिक पदार्थो में तृप्ति की जब ऐसी दशा है तो समझ में नहीं आता कि यह सब समझ कर भी अनेकानेक कुंठाओं की पीड़ा हम क्यों भुगतते हैं और अपने लिये दीर्घकालिक दुःखों की रचना क्यों करते हैं ? यह वास्तव में दयनीय और चिन्तनीय दशा है हमारे मन की, हमारी चेतना की तथा हमारे ज्ञान और विवेक की।

प्रमाद की प्रमत्तता

मुझे यह तथ्य ज्ञात है कि जब काम–भोगों की इच्छाएँ मन–मानस को आच्छादित कर देती हैं और जीवन की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में एक उन्माद सा छा जाता है तब वह मनुष्य की विशेष प्रमादपूर्ण अवस्था होती है। प्रमाद की प्रमत्तता उसे आत्मीय चेतना की शुभ संज्ञा से शून्य बनाये रखती है। इसी कारण वीतराग देव की चेतावनी प्रकट हुई कि तू समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो। समय कालखंड का सबसे छोटा घटक माना गया है अतः प्रमाद के अस्तित्व को एक समय के लिये भी आत्म–घातक बताया है। मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा रूप प्रमाद पांच प्रकार का कहा गया है तथा प्रमाद को ही कर्म माना गया है। इन पांच प्रकार के प्रमाद के अभाव को पांच प्रकार का अप्रमाद बताया है। प्रमादी व्यक्ति को चारों ओर से भय ही भय सताता है किन्तु अप्रमत्त पुरुष को कहीं से भी भय नहीं होता है। विषय–कषाय सेवन से उत्पन्न प्रमाद को धर्म के क्षेत्र से बाहर समझा गया है। अप्रमादी होकर ही मनुष्य धर्म के क्षेत्र में आत्मिक उद्यम विशेष रूप से कर सकता है।

मैंने जाना है कि प्रमाद की प्रमत्तता के वशीभूत होकर मैं आत्म–विकास की महायात्रा के तथ्य को ही भूल गया था और उसे ही क्या–अपने स्वरूप व अस्तित्व तक को भी भूल गया था। मैं यह भी भूल गया था कि मुझे

मनुष्यत्व, वीतराग धर्म श्रवण, सम्यक् श्रद्धा एवं संयम में पराक्रम की जो दुर्लभ प्राप्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हें अपने व संसार के दुःखों को घटाने व मिटाने में नियोजित करनी चाहिये। यह प्रमाद की प्रबलता ही थी कि मैंने इस समर्थ मानव जीवन को भी एक बार तो प्रमाद के भेंट चढ़ा दिया और अपने आपको विषय–कषाय के दलपल में आकंठ डुबो दिया।

फिर मेरे अन्तःकरण में ये ध्वनियाँ गूंजने लगी कि अति दुर्लभ एवं विद्युत के समान चंचल इस मनुष्य भव को पाकर जो प्रमाद का आचरण करता है, वह कापुरुष होता है–सत्पुरुष नहीं हो सकता। यह जानकर धीर पुरुष समय मात्र के लिये भी प्रमाद नहीं करते हैं क्योंकि यह जीवन, यह यौवन प्रति पल व्यतीत होता जाता है। अतः जब तक इस शरीर की शक्तियाँ क्षीण नहीं हो जाती, उससे पहले ही धीर पुरुष प्रमाद को त्याग कर धर्माराधन में प्रवृत्त हो जाता है। वीतराग देव ने यह भी फरमाया कि जो लोग प्रमादवश सोये हुए रहते हैं, वे अमुनि कहलाते हैं और मुनि वे ही हैं जो सदा जागते रहते हैं। अप्रमादी सोते हुए भी जागता रहता है–मोह निद्रा से सोये हुए प्राणियों के बीच रहकर भी उसकी जागरूकता कभी शिथिल नहीं होती। वह यह जानता है कि मृत्यु किसी भी समय सामने आ सकती है क्योंकि काल बड़ा निर्दयी होता है एवं शरीर बड़ा निर्बल होता है अतः प्रमादाचरण में कभी भी रत नहीं होना चाहिये। पहले प्रमादवश जो कुछ भी किया हो, उसके लिये भी संकल्प लिया जाना चाहिये कि वह भविष्य में वैसा पुनः नहीं करेगा। कारण, प्रमादयुक्त प्रवृत्तियाँ कर्मबंधन कराने वाली होती हैं तथा जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित होती हैं, वे कर्मबंधन नहीं कराती हैं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमशः मूर्ख और पंडित कहलाता है।

इन प्रेरणादायी ध्वनियों ने मेरे अन्तःकरण को जगाया, तब मैंने प्रमाद के उन्मादकारी स्वरूप को समझा और उस उन्माद को दूर करने का पुरुषार्थ प्रारंभ किया। प्रमाद का यह उन्माद पांच प्रकार से हमारी चेतना को आवृत्त कर लेता है– (1) **मद्य प्रमाद** –शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन मद्य प्रमाद है, जिससे शुभ परिणाम नष्ट होते हैं। शराब में जीवों की उत्पत्ति होने से जीवहिंसा का भी महापाप लगता है। लज्जा, लक्ष्मी, बुद्धि, विवेक आदि का नाश तथा जीव हिंसा आदि के मद्यपान के दोष तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, परन्तु परलोक में भी यह प्रमाद दुर्गति में ले जाने वाला है। मद्यपान के तो अनगिन दोष होते हैं–स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर का नाश, भांति–भांति के रोगों का आगमन, ज्ञान, स्मृति एवं बुद्धि का नाश, लोगों द्वारा तिरस्कार की

प्राप्ति, सज्जनों से अलगाव, द्वेष की प्रगाढता, वाणी में कठोरता, नीच संगति, कुल–हीनता, शक्ति का ह्रास, धर्म, काम एवं अर्थ की हानि आदि। (2) **विषय प्रमाद**–पांच इन्द्रियों के विषय, शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श से पैदा होने वाला प्रमाद। इन पांचों विषयों में आसक्ति से विषाद उत्पन्न होता है। ये विषय–भोग भोगते समय मधुर लगते हैं लेकिन परिणाम में बहुत की कटु होते हैं। विष–सम होने के कारण ही इन्हें विषय का नाम दिया गया है। इस विषय–प्रमाद से मनुष्य व्याकुल चित्त वाला होकर जीव के हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है। वह अपनी झोली दुष्कृत्यों से भर लेता है और चिरकाल तक संसार के दुःखों की अटवी में भटकता रहता है। शब्द में आसक्त हिरण व्याध का शिकार बनता है। रूप मोहित पतंगा दीपक की लौ पर जल मरता है। गंध में गृद्ध भंवरा सूर्यास्त के समय कमल में ही बंद होकर नष्ट हो जाता है। रस में अनुरक्त हुई मछली कांटे में फंसकर मृत्यु का शिकार हो जाती है। स्पर्श सुख में आसक्त हाथी स्वतन्त्रता सुख से वंचित होकर बंधन को प्राप्त होता है। एक–एक विषय के वशीभूत होकर जीव जब इस रीति से विनष्ट हो जाते हैं तो उन मनुष्यों का क्या कहना, जो पांचों प्रकार के विषयों में प्रमत्त होकर बेभान बने रहते हैं ? विषयासक्त जीव निरन्तर विषयों का उपभोग करते हुए भी कभी तृप्त नहीं होता, बल्कि अग्नि में घी डालने के समान उसकी अतृप्ति बढ़ती ही चली जाती है। उसे आज का सुख तो दिखाई देता है, किन्तु वह भूल जाता है कि भावी जीवनों में नरक एवं तिर्यंच गति के महादुःखों को भोगते समय उसकी कैसी दुर्दशा बनेगी। अतः विषय प्रमाद से निवृत्ति ही श्रेयकारी है। (3) **कषाय प्रमाद**–क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप कषाय का सेवन करना कषाय–प्रमाद कहलाता है। शुभ परिणामों का नाश करने वाला क्रोध पहले स्वयं क्रोधी को जलाता है और बाद में दूसरों को। क्रोधी विवेक और सदाचार खो देता है तथा सदा अकार्यों में प्रवृत्ति करता है। क्रोध वह अग्नि है जो चिरकाल से अभ्यस्त यम, नियम, तप आदि को भी क्षण भर में भस्म कर देती है। क्रोध को जो क्षमा से शान्त नहीं करता, वह लोक–परलोक बिगाड़ने वाला एवं स्व–पर का अपकार करने वाला बनता है। इसी प्रकार मान भी विवेक, विनय और ज्ञान का नाश कर देता है एवं मनुष्य को कुशील एवं कदाचार में गिरा देता है। कारण, कुल जाति, बल, रूप, तप, विद्या, लाभ व ऐश्वर्य का भी मान करना नीच गौत्र के बंध का कारण होता है। मान के बल पर मनुष्य ऊँचा बनना चाहता है किन्तु यहीं वह भूल जाता है कि मान नीचा बनाने वाली वृत्ति होती है। मान का परिहार विनय वृत्ति से ही किया जा सकता है। माया रूप कषाय भी ऐसा शल्य है जो

आत्मा को व्रतधारी नहीं बनने देता। अविद्या की जननी और अपकीर्ति की प्रसारिणी यह माया इस लोक में अपयश तथा परलोक में दुर्गति देती है। मायापूर्वक यदि संयम और तप के अनुष्ठान भी किये जायं तो वे भी नकली सिक्कों की तरह व्यर्थ ही होंगे। माया का त्याग करके सर्वत्र सरलता अपनाई जानी चाहिये। सबसे ऊपर लोभ रूप कषाय सभी प्रकार के पापों का आश्रयस्थल होता है। लोभी मायावी भी होता है तो मानी और क्रोधी भी। लोभी मृत्यु के खतरे से तो सदा भयभीत रहता ही है किन्तु वह अपने ही आत्मीय जनों से भी भयभीत रहता है कि कहीं वे उसकी हत्या न कर दें। लोभी परम हिंसक भी होता है। लोभ का निराकरा संतोष वृत्ति को धारण करके ही किया जा सकता है। (4) **निद्रा प्रमाद**–निद्रा दो प्रकार की होती है, एक द्रव्य निद्रा और दूसरी भाव निद्रा ! द्रव्य निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति चेतना के स्थूल क्रिया–कलापों से मुक्त सा हो जाता है तथा भाव निद्रा अज्ञान और मोहजन्य होती है। उभय प्रकार की निद्राओं का सेवन करना निद्रा प्रमाद है। द्रव्य निद्रा प्रमाद की अपेक्षा भाव निद्रा प्रमाद अत्यधिक भयंकर एवं आत्मा को अधोगामी बनाने वाला होता है। अतः भाव निद्रा प्रमाद से व्यक्ति जितना बचता है उतना ही उसका आत्म–विकास होता है।

विकथा प्रमाद

राग–द्वेषवश होकर जो वचन कहे जाते हैं, उन्हें विकथा कहते हैं याने कि विकृत कथन। ये कथन कई प्रकार के होते हैं जिनका निरोध, वाणी पर संयम रखकर किया जा सकता है।

मेरा विश्वास बन गया है कि यदि मैं सर्वप्रकारेण प्रमादाचरण को समाप्त करने लगूं तो अवश्य ही विषय–कषायों की मन्दता के साथ अज्ञान, आसक्ति एवं ममत्व के परिणाम भी क्षीण होने लगेंगे। चाहिये भीतर का जागरण, चेतना का समीकरण एवं मन का केन्द्रीकरण।

आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ

अन्तःकरण चेतना एवं मन की साधना में जब समरसता जमती है तो अपनी विदशा के प्रति ग्लानि भी उत्पन्न होती है और एक नया उत्साह भी जागता है कि चरण सन्मार्ग पर गमन करें। ऐसी मानसिकता में आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ उस उत्साह को सम्पुष्ट बनाती हैं–ऐसी मेरी सुदृढ़ धारणा है। ये आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ उन वीतराग देवों के परम ज्ञान से उद्‌भूत हुई हैं जिन्होंने अपने आत्मस्वरूप की श्रेष्ठ समुज्ज्वलता एवं परमोच्चता प्राप्त की।

इस पहले सूत्र से सम्बन्धित ऐसी ही कुछ आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ मैं यहाँ देना चाहता हूँ जो मेरी आत्म विकास की महायात्रा का मार्गदर्शन करती हैं और मेरी मान्यता है कि वे सम्पूर्ण जगत् के समस्त प्राणियों के आत्म विकास को भी अनुप्रेरित करती हैं–

'हिंसा कार्यों के परिणामों को समझ कर बुद्धिमान मनुष्य स्वयं छः काय के जीव अर्थात् किसी भी प्राणी समूह की कभी भी हिंसा नहीं करे, दूसरों के द्वारा कभी भी हिंसा नहीं करवाए तथा हिंसा करते हुए दूसरों का कभी अनुमोदन भी नहीं करे। जिसके द्वारा छः काया के जीवों के हिंसा कार्य समझे हुए होते हैं, वह ज्ञानी होता है जो हिंसा कार्य को दृष्टाभाव से जानता है।

'छः काया के प्राणी समूह को वीतराग देव की आज्ञा से अच्छी तरह जानकर उसको निर्भय बना दे–अभयदान दे।'

'जो अध्यात्म रूप समता को जानता है, वह बाह्य जगत् में चल रही सांसारिक विषमताओं को समझता है, जो इन बाह्य विषमताओं को समझता है, वह अध्यात्म को जानता है। जीवन–सार को खोजने वाले मनुष्य को यह श्रेष्ठ सन्तुलन वाली आध्यात्मिक तुला सदैव अपने सामने रखनी चाहिये।

'इस जीवन में जो व्यक्ति प्रमादयुक्त होते हैं, वे मनुष्य जीवन एवं इसकी दुर्लभ प्राप्तियों के व्यतीत होते जाने को नहीं समझ पाते हैं। इस कारण प्रमादी व्यक्ति प्राणियों को मारने वाले, छेदने वाले, भेदने वाले, उनकी हानि करने वाले, उनका अपहरण करने वाले, उन पर उपद्रव करने वाले तथा उनको हैरान करने वाले होते हैं। कभी नहीं किया गया है– ऐसा हम करेंगे, यह विचारते हुए प्रमादी व्यक्ति हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। अतः प्रत्येक जीव के सुख–दुखः को समझ कर और अपनी आयु को ही सचमुच न बीती हुई देखकर तू उपयुक्त अवसर को जान। जब तक तेरी पांचों इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति कम नहीं होती है, तब तक अनेक भेद वाली अक्षीण ज्ञान शक्तियों द्वारा तू उचित प्रकार से आत्महित को सिद्ध कर ले।

'समतादर्शी के लिये कोई उपदेश शेष नहीं है। आसक्तियुक्त विषमतादर्शी अज्ञानी लोगों के अनुमोदन से अपरिमित रूप से दुःखी होता है, अतः हे धीर, तू मनुष्यों के प्रति आशा को और वस्तुओं के प्रति इच्छा को छोड़। यदि लाभ है तो मद न कर, हानि है तो शोक मत कर और बहुत भी प्राप्त करके आसक्तियुक्त मत बन। अपने को परिग्रह से दूर रख।

'इच्छाएँ अनंत होती हैं और जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता है। फिर इच्छाओं के तृप्त न होने पर मनुष्य शोक सन्तप्त होता है, क्रोध करता है तथा दूसरों को सताता है। जो आसक्त है, वह कपटी है, अज्ञानी है, विषय–लोलुप है और सबके प्रति शत्रुता बढ़ाने वाला होता है। जो ममतावाली वस्तु बुद्धि को छोड़ता है और समतामयी आत्मा के दर्शन करता है, वह सब ओर से पूर्ण जागरूकता पूर्वक चलने वाला होता है।

'पीड़ित प्राणियों को देखकर तू अप्रमादी होकर गमन कर। यहाँ प्राणी पीड़ा में चीखते हुए दिखाई देते हैं। हे बुद्धिमान, उनको तू देख। यह पीड़ा हिंसा से उत्पन्न होने वाली है। और हिंसा से विषमता उत्पन्न होती है अतः हे धीर, तू विषमता के प्रतिफल और आधार का निर्णय कर एवं उसका छेदन करके समता का दृष्टा बन।

'हे ज्ञानी, संसार को निस्सार देखकर तू समझ। हे अहिंसक, दुःखों से परिपूर्ण जन्म–मरण चक्र को जानकर समता का आचरण कर।'

जीवन की एक नई व्याख्या

मैं गहराई से चिन्तन करता हूँ तो एक प्रश्न उठता है कि यह जीवन क्या है ?– किं जीवनम् ? जहाँ तक जीवन की व्याख्या का सम्बन्ध है, जितने मुंह, उतनी व्याख्याएँ सुनने को मिल सकती हैं। किन्तु क्या कोई व्याख्या ऐसी है जो सूत्र रूप भी हो तथा सर्वार्थ सूचक भी हो।

मेरे मन में आता है कि जीवन की पूर्णता किसमें मानी जानी चाहिये ? जीवन की पूर्णता वही है जो वीतराग देव प्राप्त कर चुके तथा सम्पूर्ण संसार को बता चुके। वह पूर्णता प्रकट होती है समता की पूर्णता में। जब विषय–कषाय एवं राग–द्वेष प्रमाद रूपी ममता जीवन के विचार एवं व्यवहार में से समाप्त होने लगती है और उसके स्थान पर समता का प्रवेश होने लगता है, तभी यह समझा जा सकता है कि उस जीवन ने सही दिशा पकड़ ली है। इस रूप में जब ममता सम्पूर्णतः समाप्त हो जाय एवं समता सम्पूर्णतः विस्तार पा जाय तब कह सकते हैं कि समता की पूर्णता में जीवन की पूर्णता प्रकट हुई है।

इस दृष्टि से जीवन की जो भी नई व्याख्या मैं बनाऊं, उसमें समता–भाव का तो प्रमुख स्थान होगा ही। फिर यह सोचा जाय कि समता के उच्चस्थ शिखर पर पहुँचने के लिये कौनसे एक बिन्दु को खोजा जाय, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो। वैसे तो समता की साधना करने तथा उस साधना

को सफल बनाने की दृष्टि से कई महत्त्व के बिन्दु हो सकते हैं जैसे समता के सिद्धान्त को समझना, उसके कार्यान्वयन के विषय में सही निर्णय लेना और इसकी सामाजिक एवं व्यक्तिगत क्षेत्र में उपयोगिता का निर्धारण करना।

सर्वाधिक महत्त्व का बिन्दु मुझे यह महसूस होता है कि जीवन को समतामय बनाने के लिये यथा समय यथोचित रीति से सही और सम्यक् निर्णय लिया जाय। ज्ञान हम प्राप्त कर लें, सिद्धान्त को भी समझ लें, किन्तु उसको विधिपूर्वक जीवन के आचरण में उतारने का यदि हम समय पर निर्णय नहीं ले सकें तो उस ज्ञान और सिद्धान्त का हमें विशेष लाभ नहीं मिल सकता है। अतः सही निर्णय के बिन्दु को ही हमें सर्वाधिक महत्त्व देना होगा।

जीवन क्या है ? इसके उत्तर में इस रूप से सूत्र रूप व्याख्या तैयार की जा सकती है कि–

'सम्यक् निर्णायकं समतामयंच यत् तत् तज्जीवनम्' अर्थात् जीवन वही जो सम्यक् निर्णायक हो तथा समतामय हो। इस रूप में जीवन के दोनों छोर पकड़ लिये गये हैं। जीवन का अन्तिम लक्ष्य है कि उसकी सभी वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ सभी प्रकार से समतामय बन जाय। यह जीवन का अन्तिम छोर है तो प्रारम्भ का छोर समुचित विधि से पकड़ में आ जाय, उसके लिये हमारा 'सम्यक् निर्णायक' होना आवश्यक है। प्रत्येक परिस्थिति में एवं प्रत्येक स्तर पर यदि सही निर्णय लेकर धर्माराधन या गुणाचरण किया जाता है तो कोई आशंका नहीं माननी चाहिये कि आत्म विकास की महायात्रा में कही भी पथ से पग डगमगा जाय या भटक जाय। सम्यक् निर्णय–शक्ति से प्रारंभ हुआ जीवन अपना पुरुषार्थ प्रक्रिया में रागद्वेष, प्रमाद, अज्ञान, आसक्ति आदि दोषों से परिपूर्ण ममता का समूल निवारण कर सकेगा–ऐसी आशा रखी जानी चाहिये। समता साधना का श्रेष्ठतम विकास भी सम्यक् निर्णायक जीवन द्वारा संभव हो सकेगा।

मेरा मानना है कि अपने मन की ममता मिटे तो समता के सहज विस्तार को कोई नहीं रोक पायेगा। मन की समता मिटेगी तो फिर वस्तु में परिग्रह नहीं रहेगा। वस्तु में परिग्रह की मूर्च्छा नहीं होगी तो वस्तुओं को प्राप्त करने की हिंसक होड़ समाप्त हो जायेगी। तब वस्तुओं के पूरे समाज में सम–वितरण होने में कोई कठिनाई शेष नहीं रह जायेगी। ममता मिटेगी तो पदार्थो की संग्रह वृत्ति मिट जायेगी। मैं सोचता हूँ कि 'पर द्रव्यं लोष्ठवत्' जो कहा गया है वह तभी हो सकता है जब द्रव्य के प्रति ही आसक्ति ममत्व भाव न रहे। ऐसा हो जाता है तो परद्रव्य क्या स्वद्रव्य भी लोष्ठवत् हो जायेगा,

सिर्फ उसका उपयोग जीवन की मूल आवश्यकताओं को पूरी करने मात्र में ही किया जाय।

मेरी आत्मा कहती है कि वर्तमान युग में जीवन के मूल्य जिस गलत आधार पर ढल गये हैं, उन्हें परिवर्तित किये जाने की नितान्त आवश्यकता है। सारे वातावरण को आज जो अर्थप्रधान बना दिया गया है तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदंड भी अर्थ को बना दिया गया है—यही सबसे बड़ी भूल है। यही कारण है कि आज का अर्थ–परक समाज जड़ मूल्यों वाला बन गया है जिसमें अर्थ को ही पहली महत्ता मिल रही है। इस कारण सारी धार्मिकता और नैतिकता को ताक में रखकर अधिकांश व्यक्ति अर्थोपार्जन की दौड़ में ही बुरी तरह से भाग रहे हैं। सामाजिक क्षेत्र में मानवीय मूल्यों का निरादर करके आर्थिक मूल्यों को जिस कदर बढ़ावा मिला है और मिलता जा रहा है—प्रबुद्ध जनों के लिये यह गंभीर चिन्ता का विषय है। चिन्ता का सबसे बड़ा कारण यह है कि नित प्रति समाज में विषमता की खाई ज्यादा से ज्यादा चौड़ी होती जा रही है। आर्थिक सम्पन्नता और विपन्नता के भेद की दृष्टि से जितनी विषमता बढ़ती जाती है, उतनी ही सामाजिक क्षेत्र में अर्थ की महत्ता और उसकी प्राप्ति के लिये आपाधापी बढ़ती जाती है। फलस्वरूप धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक दुरावस्था भी जटिल होती जाती है। इस सारी स्थिति का सबसे बढ़कर कुफल यही होता है कि समता का रूप धूमिल होने लगता है। ममता का नग्न नृत्य कुटिल होता जाता है जिससे व्यक्ति के विकास एवं समाज के सुधार का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है।

मेरी सम्मति में आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यंकता है कि मूल्यों में परिवर्तन हो। अर्थ पर आधारित मूल्यों को समाप्त करना होगा और उन्हें मनुष्यता पर आधारित बनाना होगा। तभी समता का व्यक्ति की साधना में तथा समाज के नवनिर्माण में व्यापक रूप से सच्चा विकास सम्पादित किया जा सकेगा।

मैं इस दृष्टि से साध्य और साधन का समीकरण करते हुए जीवन की सूत्र रूप एवं सारपूर्ण इस व्याख्या को कि–

सम्यक् निर्णायकं समतामयञ्च यत् तज्जीवनम् को विशेष महत्त्व देना चाहूंगा कि यह नई व्याख्या जीवन के मानवीय मूल्यों को प्राथमिकता देती है। समता जिस जीवन का साध्य होगी, उसका सच्चा साधन सम्यक् निर्णय ही हो सकेगा जो एक समता साधक के ज्ञान, विवेक एवं ध्यान की कसौटी रूप होगा। सम्यक् निर्णय का सम्बन्ध भी सदा भावनात्मक ही होगा तथा

विकसित भावना के अनुसार ही उस निर्णय की श्रेष्ठता एवं प्रभावकता सिद्ध होगी। इस प्रकार जीवन की पूर्णता इस छोटी-सी व्याख्या के दो शब्द समूहों में समाविष्ट कर ली गई है। ये दो शब्द समूह आत्मविकास की महायात्रा के पथ पर प्रकाशित होने वाले एक प्रकार से दो दीप-स्तंभ हैं।

पहला सूत्र और मेरा संकल्प

आत्म समीक्षण के इस पहले सूत्र के अनुसार मैं संकल्प करता हूँ कि मैं मूर्च्छा और ममत्व को हटाऊंगा, राग-द्वेष और प्रमाद को मिटाऊँगा तथा अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मंगलमय बनाऊंगा।

मेरा यह संकल्प मेरे लिये भी है और मेरे साथियों व अन्य प्राणियों के लिये भी है जिनको भी मैं आत्म-स्वरूप घातक दुर्गुणों से सावधानी दिलाना चाहता हूँ तथा जीवन के नवनिर्माण एवं समाज के स्वस्थ विकास के प्रति अपने कर्त्तव्य का भी निर्वाह करना चाहता हूँ।

मेरा संकल्प है कि मैं अपनी स्वयं की तथा अधिकाधिक मनुष्यों की संवदेनशीलता को गहरी करूंगा जिससे हम सब मिलकर ऐसे समाज का निर्माण कर सकें जिसमें शोषण, दमन, अनुशासनहीनता, पारस्परिक कटुता अथवा हृदयहीनता व अशान्ति की भावना न हो। मैं अपनी चेतना को जगाऊंगा तो अन्य प्राणियों को भी उनकी चेतना जागृति में योग दूंगा कि जीवन को दुःखी बनाने वाले मूर्च्छा, प्रमाद और ममत्त्व घटे तथा वस्तु त्याग से पहले ममत्व त्याग की मानसिकता बने। हमारे बीच आध्यात्मिक जागृति का इस रूप में विकास हो कि हम मान-अपमान, या लाभ-हानि आदि के द्वन्द्वों की निरर्थकता को हृदयंगम कर लें। इससे अहिंसा, सत्य तथा समता को अपनाने की अभिलाषा एवं उमंग बलवती हो जायेगी। हमारे विचार एवं व्यवहार में जितने अधिक अंशों में अहिंसा, सत्य तथा समता का समावेश होगा, उतनी ही अधिक गति से अनासक्ति की मूल्यात्मक भावना का प्रसार हो सकेगा। यही मार्ग है कि व्यक्ति के अन्तःकरण में तथा समाज की अन्तरंगता में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की चेतना सघन बन जाय।

सामान्यतया मैं जानता हूँ कि यह मूर्च्छित मनुष्यों का जगत् है फिर भी आध्यात्मिक उत्थान की प्रेरणा का स्रोत निरन्तर बहता रहे तो मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यों न हो, उसमें आत्म-विकास का जोश जगाया जा सकता है। यदि मनुष्य एक बार वृद्धावस्था, मृत्यु और धन वैभव की अस्थिरता को दिल से समझ जाय तो उसकी संवेदनशीलता उभर सकती है और वह अपनी मूर्च्छा को तोड़ सकता है।

मैं संकल्प लेता हूं कि मैं बाह्य जगत् के अपने सम्पर्क को कभी प्राथमिकता नहीं दूंगा। बल्कि अन्तरात्मा की आवाज को ही प्रमुखता दूंगा। इस कारण जन्म लेती हुई अपनी आशाओं और इच्छाओं का वहीं निरोध कर दूंगा ताकि उन की पूर्ति सम्बन्धी विषय–कषायपूर्ण प्रमाद से बच जाऊं। मैं इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बनूंगा तो बहिर्मुखी हो जाऊंगा और विभाव–सद्भाव में रत रहकर कर्मबंधनों को काट नहीं सकूंगा अतः अन्तर्मुखी बनना मेरा लक्ष्य होगा जिसके लिये मुझे अनासक्ति भाव का अभ्यास करना होगा। मैं मानता हूं कि मेरी संयम साधना वहीं से प्रारंभ होगी। कषाय का राजा मोह होता है अतः मोह को नष्ट करूंगा तो कषायों को भी नष्ट कर दूंगा। आप्त पुरुषों ने कषायों से मुक्ति को ही वस्तुतः मुक्ति कहा है।

मै इस सत्य को सदा मानता हूँ कि इस मानव समाज में न कोई नीच है, न कोई उच्च–इस कारण सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार ही किया जाना चाहिये। समता से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। समता धर्म का मूलाधार यह है कि जगत् में सब प्राणियों के लिए पीड़ा अशान्तिकारक और दुःखयुक्त होती है एवं सभी प्राणियों के लिये सुख अनुकूल होते हैं व दुःख प्रतिकूल होते हैं। वध आदि की हिंसक प्रवृत्तियाँ अप्रिय होती हैं, जीवित रह पाने की अवस्थाएँ प्रिय लगती हैं। सब प्राणियों के लिये जीवन प्यारा होता है अतः सबके जीवन की रक्षा की जानी चाहिये। जीवन रक्षा के बाद जीवन–साम्यता उससे ऊपर की सीढ़ी है।

मैं अनुभव करता हूँ कि अहिंसा और समता की साधना ही सत्य की साधना है। आवश्यक यह है कि हम सत्य का निर्णय कर सकें, सत्य को धारण कर सकें तथा सत्य की आज्ञा में स्थिर रह सकें। सत्य की जो आज्ञा है, वही समतादर्शी वीतराग देव की आज्ञा होती है, जिसका पालन मैं अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता हूँ। इस पालन में भी मैं तत्परता को अनिवार्यता मानता हूँ क्योंकि कुछ लोग उनकी आज्ञा में भी आलसी होते हैं तो कुछ लोग उनकी अनाज्ञा में तत्पर होते हैं जबकि ये दोनों ही दशाएँ नहीं रहनी चाहिये। मैं इस आज्ञापालन को अपनी स्वतंत्रता का हनन नहीं मानता क्योंकि उनकी आज्ञाओं तक अपनी बुद्धि तथा अपने तर्क से नहीं पहुँचा जा सकता है। आध्यात्मिक रहस्यों का वीतराग देवों का आत्मानुभव–उनकी समदर्शिता की आज्ञा का पालन नतमस्तक होकर ही करना चाहिये। संसार को जानने के लिए संशय (जिज्ञासा) अनिवार्य है किन्तु समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य होती है।

मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं स्वयं समभाव में स्थित होने का प्रयास करूंगा, समदृष्टि में रहूँगा तथा अपने आचरण का समता के धरातल पर नव सृजन करूंगा। इस दृष्टि से सबसे पहले मैं अपने ही जीवन को सम्यक् निर्णायक बनाऊंगा ताकि समाज के व्यापक वातावरण में सम्यक् निर्णायक शक्ति का सामान्य विकास संभव बनाया जा सके। समाज में समतामय परिस्थितियाँ रचना ही मेरा पवित्र कर्त्तव्य होगा ही इस परिप्रेक्ष्य में पदार्थ–संग्रह को समाज में आर्थिक विषमता पैदा करने वाला समझूंगा तथा मूर्च्छा रूप परिग्रह से सबको दूर रहने की प्रेरणा के लिए अथक रूप से कार्य करूंगा।

मेरी हार्दिक अभिलाषा रहेगी कि स्व–स्वरूप, स्व–अस्तित्व एवं स्व–स्वातंत्र्य पर मेरी अमिट आस्था हो और इसी त्रिपुटी को मैं सभी प्राणियों के साथ सम्बद्ध मानूंगा। मैं अपने आत्म स्वातंत्र्य को सर्व प्राणी स्वातंत्र्य से जोड़कर देखूंगा। मैं अपने आत्म पुरुषार्थ को स्व–पर हित में इस संलग्नता से नियोजित कर दूंगा कि स्व–हित भी पर–हित में समाहित हो जाय। क्योंकि पर–हित में अपने सर्वस्व के विसर्जन से स्व–हित की उच्च पराकाष्ठा की प्राप्ति होती है। मैं अविचल भाव से संसार के बीज रूप राग–द्वेष को समाप्त करूंगा, मोह पर विजय पाऊंगा तथा कामना करूंगा कि मैं भी एक दिन वीतराग पद प्राप्त कर लूं।

किन्तु वीतराग पद प्राप्त करने की दिशा में अग्रगामी होने के लिए मनोरथों का निरन्तर चिन्तन करता रहूंगा ताकि उनकी पूर्ति हेतु निष्ठा बनी रहे और अवसर मिलता जाय त्यों–त्यों उन मनोरथों को अपने संयमी जीवन में मैं कार्यान्वित करता रहूं। श्रावकत्व की दृष्टि से मेरे मनोरथ होंगे कि (1) कब वह शुभ समय आवे जब मैं अल्प या अधिक परिग्रह का त्याग करूंगा, (2) कब मैं ग्रहस्थावस्था को छोड़कर मुंडित होकर प्रव्रज्या अंगीकार करूंगा एवं (3) कब मैं अन्तिम समय में संलेखना स्वीकार कर आहार पानी का त्याग कर एवं पादोपगमन मरण अंगीकार कर जीवन–मरण की वांछा न करता हुआ रहूंगा। इसी प्रकार सर्वविरति साधुत्व की दृष्टि से मैं मनोरथों का चिन्तन करूंगा कि (1) कब वह शुभ समय आयेगा जब मैं थोड़ा या अधिक शास्त्र ज्ञान सीखूंगा, (2) कब मैं एकल विहार की भिक्षु प्रतिभा अंगीकार कर विचरूंगा, एवं (3) कब मैं अन्तिम समय में संलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्याग कर तथा पादोपगमन मरण अंगीकार कर जीवन मरण की वांछा न करता हुआ विचरूंगा।

मेरी गूढ हृदयेच्छा है कि इस संसार में सभी प्राणियों का मंगल हो और मेरा भी मंगल हो। मेरे मंगल में सबका मंगल तथा सबके मंगल में मेरा मंगल भी निहित रहता है। मैं दृढ़ संकल्प लेता हूँ कि मैं अपने जीवन को तथा अधिकाधिक रूप में अन्य प्राणियों के जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय एवं मंगलमय बनाऊंगा।

अध्याय तीन

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 2 :

मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

मुझे सोचना है कि–

मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है।

प्रबुद्धता की बेला में मुझे विदित होगा कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या आचरण मेरे नहीं हैं, परन्तु पर–पदार्थों के प्रगाढ़ मोह ने मुझे पाप कार्यों में फंसा रखा है। मैं मिथ्यात्व को त्यागूंगा, नवतत्त्व की आधारशिला पर सम्यक्त्व की अवधारणा लूंगा एवं आत्म नियंत्रण, आत्मालोचना व आत्म–समीक्षण से अपने मूल गुणों को ग्रहण करता हुआ संसार की समस्त आत्माओं में एकरूपता के दर्शन करूंगा।

दूसरा सूत्र

मैं बुद्ध ही नहीं, प्रबुद्ध हूँ, बुद्धि के सर्वोच्च विकास को साध लेने में सक्षम हूँ। मेरी बुद्धि मेरा ज्ञान दीपक की लौ के समान सदैव प्रदीप्त रहता है। अपनी लौ ही के कारण दीपक सभी लोगों के मुंह से दीपक कहलाता है। लौ न हो तो वह सिर्फ मिट्टी का दीवट हो जाता है।

वैसे ही जो लौ है, वह मैं हूं क्योंकि मैं चैतन्य देव हूं, आत्मा हूं। और जो मिट्टी का दीवट है, वह मेरा शरीर है। शरीर में जब तक आत्मा है तभी तक जीवन है। आत्माविहीन शरीर त्याज्य हो जाता है। जब तक दीपक की लौ जलती रहती है, लोग उसे सहेज कर रखते हैं, कारण, वह सबको प्रकाश देता है, अंधकार में मार्ग दिखाता है। इस मानव जीवन का भी यही उद्देश्य है कि वह स्वयं प्रकाशयुक्त बने तो अपना प्रकाश सब ओर भी फैलावे। जैसे दीपक की लौ कभी तेजोमय रहती है तो कभी तेल की कमी से मद्धिम भी हो जाती है, किन्तु वह जलती रहती है। जलते रहना—यही जीवन का लक्षण है। अपने पुरुषार्थ की तीव्रता अथवा मंदता से जीवन की ज्योति तेजोमय अथवा मद्धिम होती रहती है, किन्तु उसका अस्तित्त्व निरन्तर बना रहता है। लौ जलती रहती है, जीवन प्रकाशित होता रहता है अपने ज्ञान के अमित प्रसार को अभिवृद्ध बनाते हुए। यह जलना है अपने लिये भी एवं औरों के लिये भी, क्योंकि प्रकाश पर किसी का एकाधिकार नहीं होता। प्रकाश अंधकारग्रस्त सभी लोगों के लिये होता है। उसी प्रकार का यह मानव जीवन भी संसार की समस्त आत्माओं में एकरूपता लाने के लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध है। मुझे इस प्रकाश के मर्म का पूरा ज्ञान है, बोध है। तभी तो मैं प्रबुद्ध हूं।

क्योंकि मैं प्रबुद्ध हूँ, इसी कारण सदा जागृत हूँ। सम्यक् ज्ञान मिथ्यात्व की नींद में कभी सोता नहीं, सदा जागता रहता है। प्रतिपल प्रकाश में नहाता रहता है। ज्ञान के प्रकाश में मेरा 'मैं' सदा जागृत रहता है, मेरा लक्ष्य हर समय मेरे सामने होता है और मैं सजगतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँच जाने के लिये प्रयासरत रहता हूं। मुझे प्रबोध भी प्राप्त है और जागरण भी क्योंकि एक प्रबुद्ध कभी भी सुशुप्त नहीं रह सकता है। जो जानता है, वह जागता है और जो जागता है, वह उठ खड़ा होता है। जो उठ खड़ा होता है, वह चल पड़ता है और वह चलता है वीतराग देवों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर। अपने प्रबोध के कारण वह भटकता नहीं है—उसके पांव डगमगाते नहीं है। वह

निश्चल गति से अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है—अपनी बढ़ती हुई उमंग और अपने बढ़ते हुए उत्साह के साथ।

मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ—इसीलिये मैं अपने स्वरूप को पहिचानता हूँ, अपने लक्ष्य को जानता हूँ और तदनुसार अपनी गति को आंकता हूँ। मेरी चेतना की प्रबुद्धता तथा उसकी सतत जागृति ही आत्म—विकास की मेरी महायात्रा की सम्पूर्ति—सूचिकाएं बन जाती हैं।

चेतना की प्रबुद्धता व जागृति

मैं जानता हूँ कि संसार के अनादिकालीन भटकाव में मेरी चेतना अज्ञान के अंधकार में ठोकरें खाती रही है, पदार्थ मोह की मदिरा से उन्मत्त बनी निद्राग्रस्त हुई है तो अपना आपा खोकर मिथ्याचरण की गन्दगी में मुंह लगाती फिरी है। मेरी प्रबुद्धता इतनी मद्धिम हो गई थी कि जैसे लौ जल ही नहीं रही हो क्योंकि मैं अपने निजत्व को ही विसार गया था। मेरी चेतना पर—पदार्थों के प्रगाढ़ मोह में फंसी तरह—तरह के पाप कार्यों में ही लगी रही। जब मेरी प्रबुद्धता ही मन्दतम थी तो भला जागृति कहां से उभरती ?

यह तो लगातार अंधकार में ठोकरें खा—खा कर मेरा क्षत—विक्षत हो जाना हुआ, मदिरा की तीक्ष्णता में खुमारी उतरने के बाद होश का आना हुआ और गंदगी की भ्रष्टता से हद पर निकलना हुआ कि मैं चौंका, जागा और अपनी विदशा को देखने लगा। अपने अपरूप को देखता रहा—देखता रहा। समझ नहीं सका कि यह मैंने क्या कर दिया था ? क्यों कर दिया था, और अब क्या करूँ ? किंकर्त्तव्यविमूढ़ता मुझे देर तक घेरे रही। मैं सोचता रहा—मैं सोचता रहा।

इस सोच से मेरी चेतना ने बोध पाया तो जागरण भी पाया। और अपनी उसी प्रबुद्धता एवं जागृति में उसने अपना कठिन कार्य भी सम्हाल लिया क्योंकि, वह कड़ी थी—अपनी स्वामिनी एवं अपने सेवक के मन वचन काया के बीच की। इन सेवकों ने उसे भी पथभ्रष्ट कर दिया था और उनकी पथभ्रष्टता की कालिख के छींटे तो अपनी स्वामिनी पर लगने ही थे। स्वामिनी भी मलग्रस्त हो गई। अब उसी का कठिन कार्य था कि एक ओर वह अपने सेवकों की उद्दंडता को रोके और उन्हें अपनी स्वामिनी की सत्सेवा में नियोजित करे तथा स्वयं स्वामिनी को भी उसके प्रबुद्ध एवं सदा जागृत स्वरूप का भान दिलावे। मेरी चेतना ने तब कमर कस ली और मन, वाणी तथा कर्म की लगाम अपने हाथ में पकड़ ली। यों कहिये—मेरी चेतना चाबुक बन गई, अपने को अपनी स्वामिनी के हाथों में सौंप कर। यह चाबुक था मेरे मन,

वाणी और कर्म को मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्याचरण से दूर हटाने का और उन्हें सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण की दिशा में ले जाने का–उनको पाप पंक से निकाल कर आध्यात्मिकता के खुले मैदान और खुले वातावरण में गमन कराने का। यह चाबुक चोट करके ही रह जाने वाला नहीं था, बल्कि चोट पर मरहम लगाते हुए इच्छापूर्वक आगे बढ़ने की जागृति देने वाला था। मेरे मन, वाणी और कर्म ने चेतना के चाबुक की चोट खाई तो उन्होंने ऊपर निहारा–अपनी कर्तृशक्ति के मुख पर उभरते हुए तेज को देखा तो वे भी स्तब्ध रहे, पश्चाताप में डूबे और संकल्प के साथ सन्मार्ग पर चलने को उद्धत हो गये।

यह है मेरे 'मैं' के जागरण की कथा। मेरे 'मैं' का हाथ तब कस गया। चाबुक को उसने मजबूती से पकड़ा और एक नजर अपने मन, वचन और कर्म पर घुमाई 'मैं' ने एक नजर उस स्थान पर भी घुमाई जहाँ से उसे तीव्र गति से निकल जाना चाहिये था क्योंकि निकलने में तब तनिक भी विलम्ब करना पुनः सुशुप्ति में गिरने का कारण हो सकता था। अभी–अभी उस विकारों से भरे स्थान के प्रति जुगुप्सा जागी थी और वहाँ से तुरन्त निकल जाने की तत्परता बनी थी, वह कहीं निरर्थक विलम्ब के कारण समाप्त न हो जाय। कहीं ऐसा न हो कि संसार के ऐन्द्रजालिक दृश्य उसे फिर से व्यामोहित बनादे और उसका चाबुक उसके हाथ से फिर छूटकर उसके मन, वचन और कर्म को फिर से भटकादे। उस स्थान पर जरा–सी देर के लिये भी ठहरे रहना घातक सिद्ध हो सकता था।

फिर क्या था ? मैंने अपने हाथ को एक जोर का झटका दिया और चाबुक को उन तीनों घोड़ों की पीठ पर बरसा दिया। मेरा रथ दौड़ने लगा। गंदगी के उस कीचड़ भरे दलदल से निकल कर जल्दी से जल्दी खुले मैदान में पहुँच जाने की मेरी आतुरता प्रबल हो उठी, जहाँ पहुँच कर मैं शान्ति से अपना स्वरूप–दर्शन कर सकूं, आत्म नियंत्रण, आत्मालोचना एवं आत्म–समीक्षण की सहायता से अपने विकास का मार्ग खोज सकूं तथा अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को जगाकर अपने मूल गुणों को अवाप्त कर सकूं।

मूल स्वरूप की संस्मृति

वह खुला मैदान ही तो यह मानव जीवन है, जहाँ मैं पहुँच गया हूँ। मनुष्यता, वीतराग धर्म–श्रवण, सम्यक् श्रद्धा एवं संयम में पराक्रम की क्षमता–रूप दुर्लभ प्राप्तियाँ यहाँ मुझे मिली हैं, यह मेरी अपने मूल स्वरूप की संस्कृति का ही सुपरिणाम है।

मैं अपने मूल स्वरूप की मनोज्ञ झलक पाकर ही तो इस खुले मैदान में पहुँच सका हूँ, जहां मुझे सुअवसर मिला है कि मैं अपने सम्पूर्ण स्वरूप की वास्तविकता को परखूं तथा स्वरूप पर छाई मैल की परतों को हटाऊँ। यह मैल पूरी तरह निकलेगा, तभी मूल स्वरूप की उज्ज्वलता प्रकट होगी। मूल स्वरूप की मेरी संस्मृति एक ओर मुझे अपने पूर्ण स्वरूप के दर्शन करने की प्रेरणा दे रही है तो दूसरी ओर उस पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने हेतु कठिन पुरुषार्थ को भी जगा रही है।

मैं जान गया हूँ–मैं जाग गया हूँ। फिर भी जितना जाना है वह ज्ञान के महासागर की एक बूंद भी नहीं है–अभी तक बहुत जानना है मुझे–ज्ञान की साधना में अपनी सर्व शक्तियाँ जुटा देनी है मुझे। मैं जाग गया हूँ लेकिन यह तो जागृति का पहला ही क्षण है। जागृति की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये मेरे 'मैं' को बहुत सावधानी संचित करनी पड़ेगी। ज्ञान का यह प्रकाश अधिकाधिक तेजोमय होता जायगा और जागृति की सावधानी स्वाभाविक एवं स्थायी बनती जायगी, तभी पुरुषार्थ की प्रक्रिया अधिकाधिक त्वरिता ग्रहण करती हुई पुष्ट, प्रबल एवं प्रखर हो सकेगी।

मेरे पुरुषार्थ के फावड़े चलते ही रहेंगे तथा पराक्रम का पसीना बहता ही रहेगा–तब उसे कोई रोक नहीं सकेगा। मेरे 'मैं' को उस की तेज चाल से तब कोई डिगा नहीं सकेगा। और इसका सबसे बड़ा कारण यह होगा कि मेरा 'मैं' अपने मैं–पन की अनुभूति ले चुका है, अपनी सुज्ञता, स्वस्थता एवं सुघड़ता को पहिचान चुका है। क्या अब वह पुनः उस अंधकार में–उन्माद में और भ्रष्टाचार में लौटना चाहेगा ? जब तक उसे स्व–स्वरूप की संस्मृति रहेगी तथा स्व–अस्तित्व की आस्था रहेगी तब तक वह ऐसा कभी नहीं करेगा। क्या एक कुंए में गिरकर चोट खाया हुआ मनुष्य जानते बूझते हुए फिर से उसी कुंए में गिरना चाहेगा ? कहावत तो यह है कि दूध का जला हुआ छाछ को भी फूंक–फूंक कर पीता है। यह दूसरी बात है कि वह फिर शराब पी ले–फिर मदमाता हो जाय और फिर उसी कुंए में गिर जाय। यह नहीं है कि ऐसा नहीं होता, किन्तु ऐसा न होने देने के लिये ही प्रबुद्धता एवं जागृति की निरन्तर आवश्यकता रहती है।

मैं मानता हूँ कि यह आवश्यकता निरन्तर पूरी भी होती रह सकती है, यदि मैं प्रतिपल, प्रतिक्षण आत्म–दर्शन करता रहूँ, आत्मानुभूति लेता रहूं और आत्मसमीक्षण में लगा रहूँ। सम–भाव और समदृष्टि से संसार के सारे प्राणियों को तो देखूं ही, किन्तु सबसे पहले स्वयं को देखूं अपने ही आत्म–स्वरूप को

देखू कि उसका गति–चक्र किस तरह चल रहा है। इसे दृष्टा भाव कहते हैं। आत्मा ही कर्त्ता है किन्तु आत्मा ही अपने आपकी दृष्टा भी हो सकती है। मैं ही मुझको देख रहा हूं कि मैं क्या कर रहा हूं। जो कर रहा है, वह भी मैं हूँ तो मैं सतत देखने वाला भी बन जाऊं कि मैं क्या कर रहा हूं। ये दोनों क्षमताएँ एक साथ कार्यान्वित की जा सकती है। मैं एक ही हूँ किन्तु कर्त्ता और दृष्टा की दोनों क्रियाएँ एक साथ कर सकता हूँ। कर्त्ता होना मेरी प्रबुद्धता है तो दृष्टा होना मेरी जागृति। मैं प्रबुद्धता और जागृति की इस वेला में स्वयं पुरुषार्थ रत रहूँगा, अपने पुरुषार्थ के खरे–खोटेपन की आलोचना भी मैं ही करूँगा तो आत्म–समीक्षण के बल पर अपने प्रछना मूल गुणों को प्रकाशित का पराक्रम भी मैं ही साधूंगा, क्योंकि मेरी मूल–स्वरूप की संस्मृति सुदृढ़ बनती हुई चली जा रही है। मेरी क्षमता और मेरी सामर्थ्य–शक्ति जाग उठी है कि मैं अपनी विदशा को जांचूं, अपनी प्राप्त शक्तियों को तौलूं तथा आध्यात्मिकता के नन्दन वन की ओर आगे बढ़ूं।

सत्य का विपयर्य है मिथ्या

मुझे अपने गति क्रम को निर्धारित करने के पूर्व ही सोचना है कि मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है। क्योंकि इस सांसारिक परिभ्रमण में अधिकांशतः मेरे साथ यही घटता रहा है कि जो तत्त्व मेरे नहीं थे, उन्हें ही मैं समेटता गया और अपने गले लगाता रहा। और जो वास्तव में मेरे अपने तत्त्व थे, उन्हें मैं भूल ही नहीं गया बल्कि उन्हें छोड़ता रहा। अगर कोई अपने शरीर की लज्जा ढकने वाले वस्त्रों को ही छोड़ता रहे तो उसे नंगा होने से कौन बचा सकेगा ? मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैं गुणविहीन आत्मा बनने लग गया–मेरे मानवीय मूल्य अज्ञान और अविवेक के अंधेरों में खो गये।

मुझे इसका प्रत्यक्ष कुफल मिला कि मैं सत्य को भूल गया–अपनी उन्मतता में सत्य को भूला ही नहीं, मैं उसका शत्रु भी बन गया। जब मैंने सत्य का दामन छोडा तो निश्चित था कि मैं मिथ्या की गोद में गिर जाता। यही हुआ और मैं मिथ्यात्व के बियावान बीहड़ में भटकने लगा। मेरी श्रद्धा मिथ्या बन गई, मेरा ज्ञान और आचरण मिथ्या हो गया। सच पूछें तो मैं स्वयं–मेरा आत्मस्वरूप इस मिथ्यात्व का प्रतीक बन गया।

पिछली स्मृतियों को अपने चित्त में उभारते हुए मुझे समझना है कि मिथ्यात्व आखिर क्या होता है ?

सत्य का विपर्यय होता है मिथ्या, जैसे कि प्रकाश का विपर्यय अंधकार होता है। वस्तुतः मिथ्यात्व वह अंधकार होता है जो सत्य से

साक्षात्कार तो करने देता ही नहीं है, किन्तु सत्य का दर्शन तक भी नहीं होने देता। पश्चिम दिशा में ले जाने वाला मिथ्यात्व आखिर पूर्व दिशा में उदय होते सूर्य को दिखा ही कैसे सकता है ? आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्यात्व का अर्थ होता है, आत्मिक विपरीतता। जब आत्मा वास्तव में जो जानना चाहिये, वह नहीं जानती बल्कि उससे विपरीत जानती है, जिन तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिये, उन के प्रति श्रद्धा नहीं रखती बल्कि उनसे विपरीत तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखती है अथवा वस्तुतः जिस प्रकार का आचरण किया जाना चाहिये वह आचरण नहीं करती बल्कि उससे विपरीत आचरण करती है, तब यह कहा जाता है कि वह आत्मा मिथ्यात्व के गहरे अंधेरे में भ्रमित हो रही है।

आत्म विकास की महामाया के मूल तत्त्वों की मान्यता में जब विपरीतता आती हो तो उस दशा में विकास की बात तो दूर रही विकास के प्रति अभिरुचि तक नहीं जागती है–यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है, क्योंकि सम्पूर्ण श्रद्धान् ही विपरीत बना हुआ होता है। इस विपरीत श्रद्धान् को सरल भाषा में इस प्रकार कहा गया है–(1) जीव तत्त्व को अजीव तत्त्व श्रद्धे तो मिथ्यात्व (2) अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व (3) धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व (4) अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व (5) साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व (6) असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व (7) संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व (8) मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व (9) आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व एवं (10) आठ कर्मों से अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व।

मैं सोचता हूं कि सरल भाषा में बताई गई मिथ्यात्व की पहिचान आत्म–विकास की बुनियादी बातों से सम्बन्ध रखती है और यदि उन्हीं में विपरीत धारणा होती है तो उससे बढ़कर आत्मा के लिये और क्या घातक स्थिति हो सकती है ? जीव और अजीव इन दोनों तत्त्वों से यह संसार बना है किन्तु वस्तुतः अपने स्वभाव से दोनों तत्त्व भिन्न–भिन्न हैं। वैसी स्थिति में कोई आत्मा को ही न माने और शरीर की मृत्यु के साथ जीवन समाप्ति की धारणा बनाले या गति से चालित अजीव वाहनों को जीव मान ले तो इससे आध्यात्मिक समझ की बुनियाद ही बिगड़ जाती है। धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की दृष्टि से तो विपरीत धारणा का असर एकदम उल्टी दिशा में ही ले जाता है। इसी प्रकार सच्चे साधुत्व की कसौटी को न समझे और साधु नामधारी की भी भक्ति में ही कोई लग जाय तो असाधु गुरु से सच्चा ज्ञान कैसे मिलेगा ? आत्म विकास के मार्ग एवं उसके लक्ष्य के प्रति

भी भ्रान्त धारणा व्यक्ति को न सही मार्ग पर चलने देती है, न सही गंतव्य का लक्ष्य निर्धारित करने देती है। इस प्रकार मिथ्यात्व का सेवन करना आत्मा को डुबोने वाला ही बनता है क्योंकि एक मिथ्यात्वी आत्मा कुदेव, कुगुरु, कुधर्म व कुशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखती है और सुदेव, सुगुरु, सुधर्म तथा सुशास्त्रों के प्रति श्रद्धा नहीं रखती है। मिथ्यात्व की अवस्था वैचारिक दृष्टि से आत्मा के लिये महापतन की दशा होती है क्योंकि विचार ही वाणी और कर्म का जनक होता है।

मिथ्यात्व के सूक्ष्म दुष्प्रभावों को भली भांति समझने के लिये मैं उसका और अधिक बारीक विश्लेषण कर रहा हूँ, उसके पांच भेदों के रूप में–(1) आभिग्रहिक मिथ्यात्व–तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक मिथ्या सिद्धान्त का आग्रह करना तथा सम्यक् पक्ष का खंडन करना, (2) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व–गुण दोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना, (3) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिये दुराग्रहपूर्ण हठ करना, (4) सांशयिक मिथ्यात्व–इस स्वरूप वाला देव होगा या अन्य स्वरूप वाला–इस तरह देव गुरु व धर्म के विषय में संशयशील बने रहना, तथा (5) अनाभौगिक मिथ्यात्व–विचार शून्य एकेन्द्रिय आदि तथा विशेष ज्ञान विकल्प जीवों को जो मिथ्यात्व होता है उसे अनाभौगिक मिथ्यात्व कहते हैं।

मेरा दृष्टिकोण इस विश्लेषण से साफ हो जाता है कि मिथ्यात्व आत्मा की विचारणा की उस विदशा को कहेंगे जब उसके सिद्धान्त–निरूपण में परीक्षा की बजाय पक्षपात होता है, सत्य के आग्रह के स्थान पर दुराग्रह होता है या कि बुद्धि–विवेक शून्यता होती है अथवा संदेहशीलता होती है। विचार के सम्बन्ध में जब ऐसी दुर्दशा एवं सत्य की विपरीतता बन जाय तो उसके भावी विकास की बात करना ही व्यर्थ होगा।

मेरा मानना है कि जहां मिथ्यात्व होता है, वहाँ सत्य नहीं होता– सम्यक्त्व नहीं होता। जहाँ सम्यक्त्व तक नहीं होता, वहाँ आत्म–विकास का एक चरण भी आगे नहीं बढ़ता। इसके विपरीत कर्म बंधन के कारणों में मिथ्यात्व को एक मुख्य कारण माना गया है कि मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा न रखने या विपरीत श्रद्धा रखने से एक मिथ्यात्वी आत्मा में आठों प्रकार के कर्मों का प्रवेश एवं उनकी संलग्नता चालू रहती है। यही नहीं, मिथ्यात्व की जडें कभी इतनी जम जाती है कि बार–बार उखाड लेने पर भी फिर–फिर हरी हो जाती है तथा साधे गये उच्च विकास को पुनः धूलिधूसरित कर देती

है। इस कारण मिथ्यात्व का पूर्णतः मूलोच्छेदन अनिवार्य माना गया है।

मैं अपनी ही आत्मालोचना करूं कि सावधानी रखते हुए भी मिथ्यात्व का मन–मानस पर ऐसा आक्रमण होता है कि श्रेष्ठ तत्वों के प्रति मेरी श्रद्धा डगमगा जाती है, ज्ञान विभंग हो जाता है तथा आचरण की धारा उल्टी बहने लगती है या यों कहूं कि दुनिया की बहती हवा में मैं संज्ञाशून्य–सा होकर बहनें लग जाता हूं। किसी झटके से ही मेरी सावधानी वापस लौटती है तब जाकर मुझे अपने मिथ्यात्व का ख्याल होता है। बहुरूपी मिथ्यात्व का दैत्य ऐसा ही होता है जो एक साधक को बार–बार सताता है और डोलायमान करना चाहता है अतः मैं मानता हूं कि मिथ्यात्व के प्रति पूर्ण सावधानी रखनी एक साधक की कड़ी कसौटी होती है। यह सावधानी किस रूप में रखी जाय ? मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व का वरण करें तथा सम्यक्त्व के प्रति अपनी निष्ठा को अमिट बनावे।

मोह ही मिथ्यात्व का मूल कारण

यह तथ्य मेरा अनुभव जन्य है कि यह मिथ्यात्व सांसारिक पदार्थो में उपजे व गाढ़े बने मोह के कारण ही पैदा होता और पसरता है। तभी तो मैं जीव को अजीव मान लेता था और अजीव मेरे लिये जीव से भी ज्यादा प्रिय हो जाता था। मन को मनोज्ञ लगने वाले अथवा पांचों इन्द्रियों को सुहावने प्रतीत होने वाले जड़ पदार्थ मुझे अपने महसूस होते थे जबकि मैं निज गुणों को भुला देता था। तो मिथ्यात्व की यह विपरीत वृत्ति एवं प्रवृत्ति पदार्थों के प्रति प्रगाढ़ मोह के गर्भ से ही जन्म लेती है।

और मोह मदिरारूप होता है जो मेरा भान भुला देता था। उन्मत्तता की दशा में मेरे कदम उल्टे ही पड़ते थे–क्या तो जानने के मामलों में और क्या मानने एवं करने के मामलों में। इस सम्बन्ध में एक शराबी की दुर्दशा हम अपनी आंखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं। शराब का नशा ही नहीं, उस नशे की खुमारी भी जब तक नहीं उतरती है, तब तक उसके साथ कोई अक्ल की बात करना आसान नहीं होता है। इसी प्रकार मोहग्रस्तता की याद भी मैं कैसे रख सकता हूं ? मोह के गाढ़े नशे में मैं क्या सोचता था, क्या मानता था और क्या करता था यह मैं कुछ नहीं जानता। ज्ञानी जन ही जानते होंगे अपितु ज्ञानी जन तो बता चुके हैं कि प्रगाढ़ मोह दशा में मन मानस पर मिथ्यात्व हावी रहता है, इस कारण उस दशा में सम्यक्त्व का वरण कठिन ही होता है। जब विचारों की दिशा सर्वथा बदलती है तब जाकर सम्यक्त्व का श्रीगणेश होता है।

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर गति करने अथवा अपनी मिथ्या श्रद्धा एवं अपने मिथ्या आचरण को सम्यक्त्वपूर्ण बनाने के पहले इस व्यापक चक्र को मैं समझ लूं कि संसार से मोक्ष तक पहुँचने के लिये इस आत्मा को किस प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है तो उस ज्ञान के कारण सम्यक्त्व के क्षेत्र में सक्रियता हेतु विशिष्ट दृढ़ता मुझे प्राप्त हो सकेगी। यही ज्ञान मुझे पदार्थ मोह से पृथक करेगा तो मेरी निष्ठा को मूल्यों के केन्द्र में संस्थापित कर देगा। मुझे श्रद्धा, ज्ञान और आचरण की एक बार शुभता प्राप्त हो–यह एक बात, किन्तु पदार्थो के प्रति प्रगाढ़ मोह के थपेड़ों से मैं अपने सम्यक्त्व की सुरक्षा करने में समर्थ बन सकूं तथा उस शुभता को बनाये रखूं व बढ़ाता रहूँ यह दूसरी बात है। एक के बाद दूसरी स्थिति आवश्यक है, वरना मोह और मिथ्यात्व का दैत्य कभी भी मेरी शुभता का सहज ही में अपहरण कर सकता है।

एक दृष्टि संसार से मोक्ष तक

मेरी भव्य आत्मा इन दोनों प्रक्रियाओं की कर्त्ता है कि वह इस संसार में कर्मो के भार से दबी हुई रहे अथवा हलुकर्मी बनकर ऊर्ध्वमुखी हो जाय। इस प्रक्रिया के ही अंग हैं कि आत्मा कर्मो का भार कैसे बढ़ाती है और अपने मन, वचन, कर्म को क्या अपरूप देती है अथवा इसके विपरीत वह अपने कर्म भार से हल्की कैसे हो सकती है और कैसे अपने मन, वचन, कर्म की शुभता साधकर सदा–सदा के लिये अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाने हेतु मोक्ष के पावन प्रांगण में प्रवेश कर सकती है ?

पहले इस प्रक्रिया के प्रधान तत्त्वों को समझलें। तत्त्व होता है वस्तु का सद्भाव एवं उसका यथार्थ स्वरूप। ये तत्त्व संख्या में नौ माने गये हैं– (1) जीव–जिसे सुख–दुःख का ज्ञान होता है तथा जिसका उपयोग लक्षण है, (2) अजीव– जड़ पदार्थ अथवा सुखःदुख के ज्ञान एवं उपयोग से रहित पदार्थ, (3) पुण्य–कर्मो की शुभ प्रकृतियाँ, (4) पाप–कर्मो की अशुभ प्रकृतियाँ, (5) आश्रव–शुभ तथा अशुभ कर्मो के आने का कारण, (6) संवर–समिति गुप्ति वगेरा से कर्मो के आगमन को रोकना, (7) निर्जरा–फल–भोग या तपस्या के द्वारा कर्मो को एक देश से क्षय करना, (8) बंध–आश्रव के द्वारा आये हुए कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्धित होना तथा (9) मोक्ष–सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाने पर आत्मा का निज स्वरूप में लीन हो जाना।

इन नौ तत्त्वों के स्वरूप को कुछ विस्तार से समझें।

जीव तत्त्व ही संसार के रंगमंच का कलाकार होता है और रंगमंच होता है अजीव तत्त्व का। रंगमंच का निर्माण, कला की विधाएँ और कला का प्रदर्शन–यह सब कुछ जीव तत्त्व करता है। क्योंकि जीव ही चेतना, एवं उपयोग लक्षण वाला, सुख–दुःख का वेदक, पर्याप्ति एवं प्राण का धर्ता, आठ कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता, सदा काल शाश्वत रहने वाला तथा कभी भी नष्ट नहीं होने वाला असंख्य प्रदेशी तत्त्व होता है। जीव ही ज्ञान, दर्शन, सुख और आत्म–वीर्य इन चार भाव प्राणों से भूतकाल में जिया, वर्तमान काल में जीता है तथा आगामी काल में इन्हीं चार भाव प्राणों के साथ जियेगा और इसीलिये इसका जीव नाम है। जीव मुख्यतः दो तरह के माने गये हैं–संसारी जो कर्म सहित हैं और सिद्ध जो कर्म खपा कर मुक्त हो गये हैं। संसारी जीव चौदह प्रकार के होते हैं–सूक्ष्म एकेन्द्रिय बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय–इन सात की पर्याप्त एवं अपर्याप्त दशा की दृष्टि से कुल चौदह प्रकार हो गये। विस्तार की अपेक्षा से जीव तत्त्व के पांच सौ त्रेसठ भेद किये गये हैं।

अजीव तत्त्व चेतना रहित व सुख–दुःख पर्याप्ति, प्राण, योग, उपयोग आदि से भी सर्वथा रहित होता है। वह जड़ स्वस्रूप होकर विनाशी स्वभाव का होता है। इस संसार के सभी दृश्यों में जीव तत्त्व के हाथों घड़ा जाकर यह अजीव तत्त्व ही दिखाई देता है तथा यही जीव–तत्त्व एवं संसार के संसरण का सम्बल बना हुआ रहता है। अजीव तत्त्व के चौदह प्रकार इस रूप में माने गये हैं–धर्मास्तिकाय (गति) के तीन भेद स्कंध, देश और प्रदेश, अधर्मास्तिकाय (स्थिति) व आकाशास्तिकाय (अवकाश) के भी ये ही तीन–तीन भेद–इस प्रकार नौ तथा दसवां काल (समय–व्यतीति) – ये अरूपी अजीव के दस भेद तथा रूपी अजीव के चार भेद स्कंध, देश, प्रदेश, एवं परमाणु पुद्गल मिलाकर कुल चौदह भेद हुए।

पुण्य कर्म का बंध कठिनता पूर्वक साधे गये सत्कार्यो से होता है किन्तु इसका उपभोग करना बड़ा ही सुखकारी रहता है क्योंकि पुण्य का उदय होने पर अनुकूल परिस्थितियां तथा मनोज्ञ वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। पुण्य–धर्म का सहायक भी होता है तो पक्ष्य रूप भी होता है। पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है। जो निस्वार्थ भाव के आचरण से संपादित होता है। जैसे भोजन के लिये अन्न देने से होने वाला अन्न पुण्य, पीने के लिये पानी देने से होने वाला पान–पुण्य, स्थान और आश्रय देने से होने वाला लयन पुण्य, शय्या, पाटपाटला आदि साधन देने से होने वाला शयन पुण्य, वस्त्र देने से होने वाला वस्त्र पुण्य,

दान, शील, तप, भाव, विनय और दया आदि की शुभता से होने वाला मन पुण्य, मुख से शुभ वचन बोलने से होने वाला वचन पुण्य, सेवा सुश्रूषा, विनय वैयावृत्य के शुभाचरण से होने वाला काय पुण्य तथा अधिक गुणवान को नमस्कार करने से होने वाला नमस्कार पुण्य।

पाप तत्त्व कर्म के रूप में आत्मा को मलीन बनाने वाला, अशुभ योग से बांधने वाला एवं दुःखों में पटकने वाला होता है। इस कर्म को आत्मा सांसारिकता में डूबी रह कर सुखपूर्वक बांधती है लेकिन इसे भोगना कठिन दुःख के साथ पड़ता है क्योंकि यह अशुभ प्रकृति रूप होता है तथा इसका फल भोग होता है अत्यन्त कटुक, कठोर और अप्रिय। आत्म स्वरूप को मलिन करने वाला यह पाप तत्त्व अट्ठारह प्रकार का बताया गया है– (1) प्राणातिपात–प्राणों को आघात पहुंचाकर जीवों की हिंसा करना, (2) मृषावाद–असत्य भाषण करना, (3) अदत्तादान–बिना दी हुई वस्तु लेना, चोरी करना, (4) मैथुन–कुशील का सेवन करना, (5) परिग्रह– ममत्त्व भाव से द्रव्य आदि रखना, (6) क्रोध–खुद तपना, दूसरों को तपाना तथा कोपायमान होना, (7) मान–घमंड करना, (8) माया–कपटाई और ठगाई करना, (9) लोभ–तृष्णा बढ़ाना और मूर्छा भाव रखना, (10) राग–प्रिय व्यक्ति या वस्तु पर मोह व आसक्ति रखना, (11) द्वेष–अप्रिय व्यक्ति या अमनोज्ञ वस्तु पर विरोध का भाव रखना, (12) कलह–क्लेश करना, (13) अभ्याख्यान–झूठा कलंक लगाना, (14) पैशून्य–दूसरे की चुगली करना, (15) पर–परिवाद–दूसरे का अवर्णवाद बोलना, और निन्दा करना, (16) रति–अरति–पांच इन्द्रियों के तेवीस विषयों में से मनोज्ञ वस्तु पर प्रसन्न होना और अमनोज्ञ वस्तु पर क्रोधित होना तथा धर्म में अरुचि रखना, (17) माया मृषावाद–कपट सहित झूठ बोलना एवं (18) मिथ्यादर्शन शल्य–कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा रखना।

आश्रव तत्त्व वह है जिसके द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं उसी प्रकार जिस प्रकार एक तालाब में उसके नालों द्वारा पानी आकर भरता है। आश्रव को नालों की संज्ञा दी जा सकती है जो बीस प्रकार के बताये गये हैं– (1) मिथ्यात्त्व–मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या आचरण का सेवन करना, (2) अव्रत–व्रत नहीं लेना और किसी तरह का प्रत्याख्यान नहीं करना, (3) प्रमाद–पांच प्रकार के प्रमाद का सेवन करना, (4) पच्चीस प्रकार की कषाय का आचरण करना, (5) अशुभ योग–अशुभ योग में प्रवर्तित होना, (6) प्राणातिपात–जीवों की हिंसा करना, (7) मृषावाद–झूठ बोलना, (8) अदत्तादान–चोरी करना, (9) मैथुन–कुशील का सेवन करना, (10)

परिग्रह–द्रव्यादि रखना, (11) श्रोतेन्द्रिय–श्रवण विषयों को वश में नहीं रखना, (12) चक्षुरिन्द्रिय–दृश्य विषयों को वश में नहीं रखना, (13) घ्राणेन्द्रिय–सूंघने के विषयों को वश में नहीं रखना, (14) रसनेन्द्रिय–रसास्वादन के विषयों को वश में नहीं रखना, (15) स्पर्शेन्द्रिय–स्पर्श के विषयों को वश में नहीं रखना, (16) मन–विचार के विषयों को वश में नहीं रखना, (17) वचन–भाषण के विषयों को वश में नहीं रखना, (18) काया–शरीर के विषयों को वश में नहीं रखना–अर्थात् इनसे उत्पन्न राग द्वेषादि भावों से अपनी आत्मा को वश में नहीं रखना। (19) भंड–उपकरण–पात्रादि को अयतना से लेना व अयतना से रखना एवं (20) सुई–कुशाग्र वस्तु मात्र को अयतना से लेना तथा अयतना से रखना।

संवर तत्त्व आश्रव याने कि कर्मों के आने का निरोध करता है। जीव रूपी तालाब में आश्रव रूपी नालों के द्वारा कर्म रूपी आते हुए पानी को रोकने हेतु संवर रूपी पाल बांधकर पानी उसे आने से पहले ही रोक दे, उसे संवर तत्त्व कहा गया है। उस के बीस बोल होते हैं– (1) सम्यक्त्व–सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचरण, (2) व्रत–प्रत्याख्यान–विभिन्न व्रत ग्रहण करना तथा त्याग करना, (3) अप्रमाद–प्रमाद का सेवन नहीं करना, (4) अकषाय–कषायपूर्ण आचरण नहीं करना, (5) शुभयोग–शुभ योगों में प्रवर्तित होना, (6) प्राणातिपात–विरमण जीवों की हिंसा नहीं करना, (7) मृषावाद–विरमण सत्य भाषण करना, (8) अदत्तादान–त्याग–चोरी नहीं करना, (9) अमैथुन–कुशील का सेवन नहीं करना, (10) परिग्रह–परिमाण द्रव्यादि पर ममत्व भाव नहीं रखना (11) श्रीतेन्द्रिय–श्रवण विषयों पर अनाशक्ति (12) चक्षुरिन्द्रिय–दृश्य विषयों पर आशक्त नहीं होना (13) घ्राणेन्द्रिय–सूंघने के विषयों में अनासक्ति (14) रसनेन्द्रिय–रसास्वादन के विषयों में अनासक्ति भाव (15) स्पेर्शेन्द्रिय–स्पर्श विषयों पर आशक्त नहीं होना, (16) मन–विचारों को वश में रखना (17) वचन को वश में रखना, (18) काया–शरीर को वश में रखना, (19) भंड–उपकरण–पात्रादि को यतना से लेना व यतना से रखना, एवं (20) सुई कुशाग्र–वस्तु मात्र को यतना से लेना तथा यतना से रखना।

आत्मा से कर्म वर्गणा का देशतः दूर होना निर्जरा तत्त्व कहलाता है। जीव रूपी वस्त्र के कर्म रूपी मैल, ज्ञान रूपी पानी, तप तथा संयम रूपी साबुन से धोकर मैल को दूर करे–उसे निर्जरा तत्त्व कहते हैं। संवर से आते हुए पानी को रोककर तालाब में भरे हुए पानी को बाहर निकालने का काम निर्जरा तत्त्व करता है। कर्मों की निर्जरा बारह प्रकार के सम्यक् तपाराधन से

की जाती है– (1) अनशन–उपवास आदि, (2) ऊणोदरी–भूख से कम भोजन करना, (3) भिक्षा चर्या (वृत्ति संक्षेप) अनेक घरों से ऐषणीय भिक्षा लाना व आहार करना, (4) रस परित्याग–रस (विगय) पूर्ण भोजन का त्याग करना, (5) कायाक्लेश–वीर आसन आदि शरीर की कष्टकर क्रियाएं करना, (6) प्रतिसंलीनता–इन्द्रियों, कषायों व योगों को वश में रखना, (7) प्रायश्चित–लगे हुए दोषों की आलोचना करना तथा प्रायश्चित लेकर आत्म स्वरूप को शुद्ध बनाना, (8) विनय–गुरु आदि का भक्ति पूर्वक अभ्युत्थानादि से आदर सत्कार करना, (9) वैयावृत्य–आचार्य आदि की सेवा सुश्रूषा करना, (10) स्वाध्याय–शास्त्रों की वाचना पृच्छना आदि करना, (11) ध्यान–मन को एकाग्र करके शुभ विचारों में लगाना एवं (12) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)–शरीर के योग व्यापार का त्याग करना।

जीव जब कषाय आदि के वशीभूत होकर कर्म पुद्‌गलों को ग्रहण करता है और आत्मा के प्रदेश तथा कर्मो के पुद्‌गल एक साथ दूध पानी की तरह मिल जाते है तथा लौह पिंड व अग्नि के समान एकमेक हो जाते हैं तो इस प्रक्रिया को बंध तत्त्व कहते हैं। इस प्रक्रिया का एक दृष्टान्त दिया गया है कि जीव आठ कर्मो से बंधा हुआ होता है और जीव तथा कर्म एकमेक हो जाते हैं व दूध–पानी की तरह लोलीभूत हो जाते हैं। तब हंस पक्षी अपनी खट्टी चोंच से दूध और पानी को एकदम अलग–अलग कर देता है, उसी प्रकार जीव रूपी हंस सम्यक् ज्ञान रूपी चोंच से जीव और कर्म के प्रदेशों को पूर्णतया पृथक–पृथक कर देता है। बंध तत्त्व के चार भेद माने गये हैं– (1) प्रकृति बंध–जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्‌गलों में भिन्न–भिन्न स्वभावों या शक्तियों का उत्पन्न होना, (2) स्थिति बंध–जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्‌गलों में अपने स्वभाव का त्याग नहीं करते हुए जीव के साथ बंधे रहने की काल मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं, (3) अनुभाग बंध–जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म–पुद्‌गलों में तर–तम भाव याने कि फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना। इसे रसबंध भी कहते हैं, (4) प्रदेश बंध–जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म–स्कंधों का सम्बन्धित होना। इन चार प्रकार के बंध का स्वरूप लड्‌डू के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है कि कोई लड्‌डू बहुत प्रकार के द्रव्यों के संयोग से बनाया गया, जो वात, पित्त या कफ को नष्ट करता हो, उसे प्रकृति बंध माने। वही लड्‌डू पक्ष, मास या दो मास तक उसी स्वरूप में ताजा बना रहे–यह स्थिति बंध हुआ। वही लड्‌डू तीखे, कडवे, कसैले, खट्टे और मीठे रस युक्त हो, उसे अनुभाग बंध या रस बंध

कहिये। वही लड्डू थोड़ी मात्रा का बंधा हुआ छोटा होता है तो अधिक मात्रा का बंधा हुआ बड़ा होता है तो वह प्रदेश बंध है। प्रकृति बंध और प्रदेश बंध योग से होता है तो स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय से होता है।

मोक्ष तत्त्व है—आत्मा का कर्म रूपी बंधन से पूर्णतया मुक्त हो जाना तथा सम्पूर्ण आत्म—प्रदेशों से सभी कर्म पुद्‌गलों का क्षय हो जाना। आत्मा अमूर्त्त होने से इन्द्रियों की शक्तियों द्वारा नहीं जानी जा सकती है। आत्मा में पैदा होने वाले अज्ञान, मिथ्यात्व आदि के दोषों से ही कर्मों का बंध होता है तथा उसी कारण उसका संसार परिभ्रमण होता है। अतः कर्म बंध का सम्पूर्णतः समाप्त हो जाना ही आत्मा का मोक्ष है। यह मोक्ष चार साधनों से प्राप्त हो सकता है— (1) सम्यक् ज्ञान—सत्य जानकारी, (2) सम्यक् दर्शन—सत्य श्रद्धा, (3) सम्यक् चरित्र—सत्य आचरण एवं (4) सम्यक् तप—सत्य तपस्या।

यह है एक दृष्टि में संसार से लेकर मोक्ष तक की प्रक्रिया का विहंगावलोकन। मैंने इस विवरण से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया है कि संसार में जीव—अजीव संयोग के क्या—क्या परिणाम प्रकट होते हैं और उन परिणामों को ध्यान में लेते हुए किस प्रकार संसार—परिभ्रमण के कारणों को मन्द एवं समाप्त कर सकते हैं ?

सांसारिकता घटाई जा सकती है आत्म संयम से, तो मोक्ष की दिशा में प्रयाण किया जा सकता है तपाराधन से ! आइये, अब इन नौ तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्धों व प्रक्रियाओं को आत्म विकास की महायात्रा के संदर्भ में समझें।

जीव और अजीव की प्रमुखता

मैं जीव तत्त्व हूँ, इस कारण मैं देखता हूँ, सुनता हूं तथा अन्य क्रियाएँ करता हूँ और देखकर, सुनकर तथा अनुभव लेकर जानने, उसका विश्लेषण करने तथा निरूपित सिद्धान्तों को समझने अथवा अपनी अनुभूतियों के बल पर नये सिद्धान्तों का निरूपण करने की क्षमता रखता हूँ।

मैं जीव हूँ इसीलिये अजीव नहीं हूँ और कभी अजीव बनूंगा भी नहीं। जीव कभी अजीव नहीं बनता और अजीव कभी भी जीव नहीं बन सकता है। किन्तु मैंने अजीव के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है और यह सम्बन्ध ऐसा दिखाई देता है कि जैसे मैं अजीव के साथ एकमेक हो गया होऊं। संसार के अन्यान्य अजीव द्रव्यों से तो अहर्निश का सम्पर्क होता ही है किन्तु अजीव पुद्‌गलों से बने हुए शरीरों को भी मैं धारण किये हुए रहता हूँ। अनादिकाल

से मैं संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ और अनादिकाल से ही शरीरों को धारण करता हुआ आ रहा हूँ अतः जब तक मैं पूर्णतया अजीव पद्गलों से अपने सभी सम्बन्ध समाप्त नहीं कर लूंगा तब तक विभिन्न शरीर धारण करता रहूंगा।

मैं एक नहीं पुद्गल–निर्मित सभी प्रकार के शरीर धारण करता रहा हूँ। आज मैं मनुष्य जन्म में हूँ तो मैंने मनुष्य जाति को प्राप्त होने वाले औदारिक शरीर को धारण कर रखा है। औदारिक नाम इस कारण कि इस शरीर के पुद्गल उदार प्रधान होते हैं। इस शरीर के अलावा दो अदृश्य शरीर–तैजस एवं कार्माण शरीर भी मैंने धारण कर रखे हैं। ये दोनों शरीर आपस में सम्बद्ध होते हैं जिनका निर्माण तैजस एवं कार्माण पुद्गलों से होता है। कार्माण पुद्गल जो विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से आत्म प्रदेशों के साथ जुड़ते हैं, उन्हें ही कर्म कहा जाता है। औदारिक शरीर तिर्यंच और मनुष्य जाति के जीवों को प्राप्त होता है तो देवों व नारकियों को प्राप्त शरीर वैक्रिय कहलाता है। आहारक पुदग्लों से निर्मित शरीर को आहारक कहते हैं। औदारिक वैक्रिय तथा आहारक शरीरों की नई उत्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य जाति में औदारिक शरीर मिला हुआ है और यहाँ से मृत्यु पाकर आत्मा देव गति में पहुँचती है तो उसे वैक्रिय शरीर प्राप्त होता है–यह उस शरीर की नई उत्पत्ति हुई। किन्तु दो शरीर–तैजस और कार्माण सदा इन तीनों शरीरों के साथ में भी रहते हैं तो एक शरीर.छोड़ कर प्रयाण कर रही आत्मा दूसरे शरीर को ग्रहण करे उस बीच के समय में भी आत्म प्रदेशों के साथ जुड़े हुए रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस समय में भी मैं तीन शरीर–औदारिक, तैजस एवं कार्माण धारण किये हुए हूँ। मेरे इस वर्णन का आशय यह है कि जीव और अजीव का सम्बन्ध इस संसार में प्रगाढ़ रूप से बना हुआ है।

इस बंधन से मैं जब कभी मुक्त होऊंगा तब अपने शुद्ध स्वरूप में मैं सिद्ध शिला से ऊपर सिद्धात्माओं की ज्योति में ज्योति रूप एकाकार होकर सदा काल के लिये अवस्थित हो जाऊँगा।

मेरे जीव तथा अन्य जीवों के विशिष्ट हेतुओं, स्वभावों तथा भावों की दृष्टि से भिन्न–भिन्न वर्गीकरण किये जाते हैं। एक वर्गीकरण के अनुसार जीव दो तरह के संसारी और सिद्ध होते हैं तो संसारी जीव अपने आत्म विकास के विभिन्न स्तरों के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं–(1) संयत–जो सर्व प्रकार के सावद्य–हिंसापूर्ण व्यापार से निवृत्त हो गये हैं एवं संयम धारण किये हुए होते हैं, (2) असंयत–जो अविरति भाव धारण किये होते हैं तथा संयम–विहीन रहते हैं एवं (3) संयतासंयत–जो देश से व्रती होता है ऐसे व्यक्ति के अव्रत

की क्रिया नहीं आती। एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार जीव पांच प्रकार के कहे गये हैं–(1) औपशमिक–प्रदेश और विपाक, दोनों प्रकार से कर्मो के उदय को रोक देने से सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम भाव से जो सहित होते हैं, (2) क्षायिक–घनघाती–कर्मो का सर्वथा क्षय कर लेने पर क्षायिक भाव प्रकटाने वाले जीव। (3) क्षायोपशमिक–जो उदय में आये हुए कर्म का क्षय करते हैं तथा अनुदीर्ण अंश का उपशम करते हैं। (4) औदायिक भाव–जो यथायोग्य समय पर उदय में प्राप्त आठ कर्मो का अपने–अपने स्वरूप से फल भोगते हैं तथा (5) पारिणामिक भाव–जो कर्मो के उदय, उपशम आदि से निरपेक्ष भाव स्वाभाविक तौर पर धारण किये रहते हैं। यह परिणमन जीवत्व भव्यत्व तथा अभव्यत्व के रूप में स्थाई होता है। अर्थात्–जिसके कारण मूल स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो, किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है।

मुझ जीव एवं मेरे से विपरीत अजीव में पर्यायों का परिवर्तन अर्थात् परिणमन एक महत्त्वपूर्ण क्रिया होती है। इस परिणमन क्रिया के कारण एक पर्याय छोड़ कर नवीन पर्याय धारण की जाती है। जीव में यह पर्याय–नवीनता, गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्य, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन चारित्र, और वेद के अन्तर से आती है तो अजीव तत्त्व में बन्धन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु एवं शब्द के अन्तर से आती है।

इसी संदर्भ में मैं सोचूं तो जीव रूप से मैं भी द्रव्य हूं तो अजीव धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुदगल के विभेद से भी द्रव्य ही हूँ। गुण की अपेक्षा से द्रव्य तथा परिणमन की अपेक्षा से द्रव्य पर्याययुक्त होता है।

मैं जीव द्रव्य हूँ जो गुण रूप से सदा शाश्वत रहने वाला हूँ किन्तु पर्याय रूप से मैंने भिन्न–भिन्न जीवनों में भिन्न–भिन्न शरीर प्राप्त किये तथा अलग–अलग रूप में सम्बोधित किया गया, उस कारण तथा एक ही जीवन में भी अपने ज्ञान, उपयोग आदि भावों की दृष्टि से परिणमन एवं परिवर्तन होते रहते हैं जो पर्याय रूप होते हैं।

'मैं' हूं–यह अनुभूति ही मेरे जीव होने का प्रमाण है और यदि मैं अपने आत्मतत्त्व में संशय करता हूं तो वह संशय भी संशयित तत्त्व के अस्तित्व को ही प्रमाणित करता है। फिर जीवित शरीर और मृत शरीर के बीच किस शक्ति का अन्तर रहता है ? वह शक्ति ही आत्मा है। इसलिये मैं आत्म रूप हूँ–शरीर रूप नहीं। शरीर अजीव है–उसका जीवन मेरी आत्मा के संयोग से है–स्वतंत्र रूप से नहीं। मैं जब तक वर्तमान शरीर में हूँ तब तक ही शरीर सक्रिय है।

[illegible] उसको छोड़ दूंगा तो यह निर्जीव हो जायगा और नष्ट कर दिया जायगा। आशय यह कि मेरे और अजीव शरीर के बीच में या शरीर मेरे और संसार के अन्य पदार्थों के बीच में जो सम्बन्ध और सम्पर्क है, उसका संचालक मैं हूं—अजीव नहीं। जीव और अजीव के संयोग में कर्त्ता की स्थिति जीव की ही होती है।

जीव के नाते मैं ही संसार में दिखाई देने वाली रचनाओं का रचयिता तथा विविध निर्माणों का निर्माता हूँ। किन्तु मेरे द्वारा सब प्रकार की रचनाएँ तथा निर्माण तभी संभव होता है, जब मैं सशरीर होता हूँ। इस शरीर के साथ बंधे होने की मेरी विवशताएँ भी अनेक हैं। मैं मोह की नींद में सोता रहूं। तो यह जड़ तत्त्व ही अपने मोहक रूपों में मुझे मेरे मन और मेरी इन्द्रियों को भरमा देते हैं। मैं अपने निजत्व में तभी आ सकता हूँ जब मैं जाग जाता हूँ और अपने शरीर, अपने वचन तथा अपने मन व अपनी इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में ले लेता हूँ।

अतः वास्तविकता यह है कि असली संचालक और कर्त्ता मैं हूँ और अजीव तत्त्व को मैं अपनी सेवा में धर्माराधना के निमित्त से लगाता हूँ। यदि मैं स्वस्थ रहकर अपने नियंत्रण को प्रभावी बनाये रखता हूँ तब तो सारी व्यवस्थायें सुचारु रूप से चलती है। उस अवस्था में वर्तमान में प्राप्त इस मानव तन का भी आत्म विकास की महायात्रा में भलीभांति सदुपयोग कर सकता हूँ। किन्तु यदि मैं ही मोह की मदिरा पीकर उन्मत्त बन जाता हूँ और अपने मन व अपनी इन्द्रियों को बाहर बहक जाने से काबू में नहीं कर पाता हूँ तो मैं हकीकत में दोष अपना ही मानता हूँ, अपने इन सेवकों का नहीं। स्वामी ही सावधान नहीं रहेगा तो सेवक भला क्योंकर सावधानी रखेंगे ?

संसार के समस्त गति चक्र एवं कार्य–कलापों में जीव तत्त्व ही प्रधान होता है किन्तु इस जीव (संसारी) तत्त्व की गति, स्थिति आदि सब अजीव से सम्बन्धित होती है अतः जीव और अजीव दोनों तत्त्वों की प्रधानता स्वीकार करनी होगी। जीव (संसारी) है किन्तु उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रकटीकरण अजीव के माध्यम से ही होता है। अतः सम्पूर्ण दृश्य जगत् न किसी एक ईश्वर की अथवा अन्य किसी विशिष्ट शक्ति की रचना है बल्कि जीव एवं अजीव तत्त्वों के संयोग का ही प्रतिफल है।

मैं इस संसार का केन्द्र हूँ अजीव तत्त्व के संयोग से किन्तु यह संयोग मेरे लिये एक बंधन है जो मुझे दुःख भरे इस संसार में ही रोक रखना चाहता है जबकि मेरा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि मैं इस बंधन को तोड़कर अपने

आत्मस्वरूप को परम निर्मलता की ओर ले जाऊँ। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं अपने जीव–अजीव संयोग को कमजोर बनाऊँ और अपने संयम व तप से सम्पूर्ण संयोग विच्छेद का पुरुषार्थ करूं। मैं जब अपना सम्पूर्ण अजीव–संयोग समाप्त कर दूंगा तो मैं अपना चरम लक्ष्य प्राप्त कर लूंगा। मेरी आत्म–विकास की महायात्रा तब सम्पन्न हो जायेगी।

कर्म–बंध का विश्लेषण

किन्तु जब तक मैं संसार में ही परिभ्रमण करता रहता हूँ एवं विभिन्न जीवनों में विविध शरीरों में स्थित होता रहता हूँ तब तक सम्पूर्ण पर्यायों का निर्माता यह कर्म बन्ध ही बनता है अतः कर्म बंध की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझना आत्म स्वरूप को समझने की पहली सीढ़ी होगी।

मैं जीव होता हूँ और मेरा शरीर अजीव, किन्तु दोनों के संयोग से नाना प्रकार की वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियां जन्म लेती हैं तथा उनमें विविध क्रियाएं फूटती हैं। ये समस्त क्रियाएं शुभता अथवा अशुभता या मिश्रित रूप में अपना प्रभाव आत्मा पर अवश्य छोड़ती हैं। जब एक ईश्वर जैसी कोई शक्ति संसार की रचना करने वाली अथवा सांसारिक जीवों को सुख–दुःख का भोग देने वाली नहीं होती है तो निश्चय ही कोई दूसरी व्यवस्था होगी जो जीव को उसके शुभ अथवा अशुभ कार्यों का प्रतिफल देती होगी। यह जिज्ञासा सही है और मेरा कहना है कि वह व्यवस्था ही कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था है। फिर पूछा जा सकता है कि इस व्यवस्था का संचालन कौन करता है ? इसके उत्तर में मैं कहना चाहूंगा कि यह व्यवस्था इस प्रकार स्वयं संचालित है कि उस के मर्म को समझने पर सब कुछ स्पष्ट हो जाता है।

मैं जीव हूँ सो मैं ही कर्मों का कर्त्ता तथा मैं ही उनके फलाफल का भोक्ता भी हूँ। यह करने और भोगने का क्रम इतना व्यवस्थित है कि करने पर उसका फल भोगना ही पड़ता है, चाहकर भी कोई जीव उससे छूट नहीं सकता। एक दृष्टान्त लेलें। कोई व्यक्ति अपने बदन पर अच्छी तैल मालिश करके रेत में लेट जाय तो उसके बदन पर रेत के कण चिपक जायेंगे अथवा नहीं। वैसे ही रेत के कण चिपकेंगे जैसी रेत में वह लेटेगा। कण भूरे होंगे, लाल होंगे या काले होंगे तो उसी रंग के कण उसके बदन पर चिपकेंगे। फिर वे कण गरम होंगे तो उसे ऊष्णता का अनुभव देंगे। ठंडे होंगे तो शीत का और तीक्ष्ण होंगे तो चुभन का। एक बार वे कण शरीर के चिपक जायेंगे तो उन्हें जल आदि से धोने पर ही शरीर से अलग कर सकेंगे। तो यह सारी चिपकने की और ऊष्णता, शीत या चुभन का अनुभव देने की क्रिया किसने

की ? साफ है कि रेत के कणों ने। तो क्या रेत के कण जीव होते हैं ? यह भी साफ है कि जीव नहीं होते अजीव होते हैं किन्तु तैल के संसर्ग से अजीव रेत के कण सक्रिय हुए। तो बताइये कि इस सारी क्रिया का संचालन किसने किया ? क्या इसमें किसी परमात्मा का कार्य है ? नहीं।

ऐसी ही व्यवस्था कर्म सिद्धान्त की है। मैं इसका संक्षिप्त विश्लेषण अपने ही उदाहरण से करता हूँ। मैं सशरीरी हूँ। अतः जीव–अजीव संयोग रूप हूँ और उसी कारण नाना प्रकार की क्रियाएँ करने में समर्थ हूँ। समझिये कि मैंने अपनी एक क्रिया से किसी जीव को सताया तो इसमें जो तत्फलस्वरूप मुझे पाप कर्म का बंध होगा। यह बंध कैसा होगा ? मैं बता चुका हूँ कि मेरे औदारिक शरीर के साथ तैजस और कार्माण शरीर भी जुड़े हुए हैं। यह कार्माण शरीर ही मेरे आत्म प्रदेशों से सम्बद्ध कर्म समूह का पिंड है। कर्म परमाणु स्कंध स्वयं अजीव होते हैं जो आकश में फैले हुए होते हैं। जिस तरह का मैंने कार्य किया है, वैसे ही कर्म पुद्‌गल क्रिया होने के साथ ही मेरे आत्म प्रदेशों के साथ बंध जाते हैं। कर्मयोग्य पुद्‌गल, मेरी आत्मा के साथ संबद्ध होकर कर्म रूपता की संज्ञा पा जाते हैं। मैंने हिंसा रूप पाप कार्य किया है तो पाप कर्म बंधेंगे और यदि दयापूर्वक किसी प्राणी की रक्षा का शुभ कार्य किया है तो सम्यक् दृष्टि के सकाम निर्जरा एवं पुण्य बन्ध प्रसंग भी उपस्थित हो सकेगा जिस प्रकार तैल मालिश किये हुए बदन पर उपलब्ध रेत के कण स्वयमेव ही चिपक जाते हैं। ये कर्म समूह कार्य की सघनता–जन्य भावों के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकृति, स्थिति, रस अथवा प्रदेश की तारतम्यता से बंधते हैं। गाढ़ा तैल लगा हुआ होगा तो ज्यादा रेत के कण मजबूती से चिपकेंगे और मामूली तैल होगा तो चिप कर जल्दी छूट भी जायेंगे। ऐसी ही तारतम्यता इन कर्मो की होती है, जितनी कालावधि के लिये इनका बंध होता है, उसके पूर्ण हाने पर ये बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं और अपना शुभ अथवा अशुभ फल जीवात्मा को देते हैं। कर्मो की यह व्यवस्था इतनी सुघड़ है कि ये महान् से महान् आत्मा को भी नहीं बख्शते। वीतरागता और उसके बाद आत्मा जब क्रिया करना ही छोड़ देती है, तभी ये कर्म पिंड छोड़ते हैं। किन्तु जब तक संसार में भटकाव है, जीव की प्रत्येक क्रिया तदनुरूप कर्म से आत्मा को आबद्ध करती ही है। कर्म बंध से कोई भी संसारी जीव बच नहीं सकता है, बल्कि अपने कर्मानुसार वह भिन्न–भिन्न गतियों में भ्रमण करता है तथा भिन्न–भिन्न परिस्थितियों का अनुभव लेता है। यद्यपि जीव ही अपने कर्मो का कर्त्ता होता है फिर भी अपने कर्म योग पर उसका कोई वश नहीं होता। अपने कर्मो के फल उसे अपने बांधे हुए कर्मो के अनुसार ही भोगना होगा।

निकाचित कर्मो में तो तनिक भी परिवर्तन नहीं कर सकता है। किन्तु कर्मो का कर्त्ता होने से जीव ही स्वयं अपने भाग्य का निर्माता भी है।

मैं कर्मो का कर्त्ता हूं क्योंकि मेरे द्वारा की जाने वाली क्रियाओं पर मेरा वश होता है। जैसी मेरी विचारणा होती है, वैसी ही क्रिया होती है अथवा मैं अपनी विचारणा को शुभ रूप भी दे सकता हूँ तो अशुभ रूप भी। यदि मैं चाहूँ तो शुभ क्रियाएं करूं और पुण्य कर्म बांधू जो मुझे शुभ फल देवें। इसके विपरीत यदि मैं अशुभ क्रियाएँ करूँ तो उनसे पाप कर्मो का बंध अवश्य होगा। तो जहाँ तक विचारणा बनाने और क्रियाएँ करने का सम्बन्ध है, मैं ही अपने भाग्य का निर्माता होता हूँ। जैसी क्रियाएँ मैं करूँगा, वैसे ही कर्म बंधेंगे। जैसे कर्मो का बंधन होगा, वैसा ही फल आगे मुझे भोगना पड़ेगा। फल भोग में मैं स्वतंत्र नहीं हूँ किन्तु क्रियाएँ करने में स्वतंत्र हूँ। इस कारण आज जब मुझे सुख के साधन और धर्माराधन की अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं तो मुझे यही अनुभव होना चाहिये कि पहले शुभ कार्य करके मैंने अपने भाग्य का शुभ निर्माण किया जिसका शुभ फल आज मुझे मिल रहा है। इसके स्थान पर आज यदि मुझे दुःखों का सामना करना पड़ रहा है तो उसके पीछे का तथ्य भी अपने पहले बांधे हुए कर्म ही होंगे, अतः ये दुःख भी मेरे अपने ही बनाये हुए हैं। सभी स्थितियाँ पूर्व कर्म फल के परिणाम स्वरूप ही हो–ऐसी भी बात नहीं है। हम अपनी नवीन क्रियाओं से भी नये कर्मो की बंध करते रहते हैं।

कर्म बंध की प्रक्रिया के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि जीव व अजीव के संयोग से जीव की जो क्रियाएँ होती हैं वे क्रियाएँ ही कर्म बंध का कारण बनती हैं। कर्म बंध के अनुरूप ही जीव को उसका फल भोगना होता है। क्रियाएँ करने तक जीव की अपनी स्वतंत्रता होने के कारण वह चाहे जैसा अपना भाग्य बना सकता है। बाद में फल भोग के समय चौंकना नहीं चाहिये, बल्कि उसे धैर्य और शान्ति से सहन करना चाहिये ताकि इस शुभ क्रिया से पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा होने के साथ नवीन कर्मो का बंध न हो और अगर बन्ध हो भी तो शुभ योग कारण के रहने से पुण्य कर्म का ही बन्धन होवे।

कर्मों की यह सारी व्यवस्था इतनी सुघड़, सम्प्रभावी तथा वैज्ञानिक है कि इसका गहराई से अनुभव करते हुए आत्मा–विकास की महायात्रा को सफल बनाया जा सकता है। बशर्ते कि हम इस सिद्धान्त के मर्म का हृदयंगम करें।

कर्मों का आगमन, अवरोध एवं क्षय

जीव अजीव संयोग से कर्म बंध की प्रक्रिया का कुछ विश्लेषण मैंने किया तो मैं इस तथ्य को भी स्पष्ट करूं कि कर्म बंध को हटाने में भी जीव का पुरुषार्थ सफल हो सकता है। मैं कर्मों का कर्त्ता हूँ और कर्त्ता बनने तक मेरी स्वतंत्रता है, पर भोक्ता होना लगभग कर्मानुसार होगा ही। मैं कर्म भार से दबा हुआ हूँ किन्तु यह नहीं है कि मैं एकदम परवश ही हो गया हूँ। उस भार को अपने पुरुषार्थ से मैं हटाने में भी समर्थ हूँ। या यों कहूँ कि अगर मेरा संकल्प, साहस और पुरुषार्थ सक्रिय है तो मैं किसी भी स्तर पर पराधीन याने कि कर्मों के अधीन नहीं हूँ। मैं अपने कर्म बंध को उनके उदय होने से पहले भी क्षय भी कर सकता हूँ। पुरुषार्थ की कुछ कमी रहे तो उसे दबा सकता हूँ- उपशायित कर सकता हूँ। और यह तो है ही कि मैं आने वाले कर्मों को पहले ही अवरुद्ध भी कर सकता हूँ।

अतः वस्तुतः मैं सजग आत्म स्वरूप के नाते हर समय स्वतंत्र हूँ—परतंत्र कभी भी नहीं, कहीं भी नहीं। मैं प्रबुद्ध हूँ सदा जागृत हूँ तो सदा स्वतंत्र हूँ परन्तु यदि मैं प्रबुद्ध भी नहीं हूँ और सदा जागृत भी नहीं हूँ तो प्रति क्षण कर्मों की मार से पराधीन एवं पीड़ित भी रहूंगा ही। कारण पाप कर्मों को बेमानी मे हंसते—हंसते बांध लूंगा लेकिन जब उनका अशुभ फल भोगूंगा तब फिर बेमानी में दुःख सहते हुए हाय—विलाप करूंगा जिससे फिर नये अशुभ कर्मो का बंध कर लूंगा। मेरा अज्ञान और मेरा मोह मुझे कर्म बंध की ऐसी जटिल श्रृंखला से बांध देगा कि मेरा उससे छुटकारा बहुत ही कठिन हो जायगा। यही कारण है कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा तथा सम्यक् आचरण किसी भी विकासशील आत्मा के लिये अनिवार्य है। सम्यक्त्व है तो यही समझ है और सही समझ है तो मानिये कि उन्मुक्त विकास है।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि मैं प्रबुद्ध हूँ—सदा जागृत हूँ। यह बुद्धि और जागृति मुझे हर समय कर्म बंध के प्रति सावधान बनाये रखती है। मैं अपनी प्रत्येक क्रिया की शुभता और अशुभता के विषय में बहुत सतर्क रहता हूँ। यही सतर्कता मुझे अपनी मन, वचन तथा कर्म पर अपना नियंत्रण बनाये रखने में सक्षमता प्रदान करती है। इस सक्षमता के बल पर ही मैं अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखता हूँ, तभी हकीकत में मै अपने 'मैं' पन की सच्ची अनुभूति लेता हूँ।

जब मेरा 'मैं' सावधान, सतर्क और स्वतंत्र होता है तो वह कर्मो के आगमन का अवरोध, उपशम एवं क्षय करने के लिये भी अपना सामर्थ्य संचित करता है।

मैं जान चुका हूं कि जब भी मैं किसी प्रकार की क्रिया करता हूं तो तदनुकूल कर्मो का मेरे आत्म प्रदेशों के साथ बंध होता है। और यह क्रियाओं का कर्म अविराम गति से मेरा चलता रहता है–कभी भी एक पल के लिये भी यह क्रम रुकता नहीं है। मैं एक क्षण के लिये भी निष्क्रिय नहीं होता हूँ। यदि मैं कोई शुभ क्रिया करता हूँ तो पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा भी होती है तो कभी पुण्य रूप शुभ कर्म का बंध होता है और यदि मैं कोई अशुभ क्रिया करता हूँ तो पाप कर्म का बंध होता है। शुभ कर्म का बंध मुझे शुभ फल देने वाला बनता है तो अशुभ कर्म के बंध से मुझे अशुभ फल मिलता है। और एक बार कर्म बंध होने के बाद उसका शुभाशुभ फल मुझे भोगना ही पड़ता है। शुभ फल में मुझे सुविचारणा, शुभ वचन तथा शुभ साधनों का संयोग मिलता है जिनकी सहायता से मैं अपने आत्म–विकास के महत्कार्यो में अधिक सक्षम तथा सामर्थ्यवान बनता हूँ।

किन्तु मेरा अशुभ फल मुझे अधिक अशुभता में घसीटता है। यदि मेरी सावधानी नहीं जगे तो अशुभता का घनत्व निरन्तर बढ़ता जाता है जिसके कुफल स्वरूप मेरी अशुभ कर्म–बद्धता अधिकाधिक घनीभूत होती जाती है और मैं अधिकाधिक दुःखों से घिरता हुआ चार गति, चौरासी लाख जीवयोनियों में परिभ्रमण करता रहता हूँ। अतः मेरी सावधानी के साथ मेरा यह निश्चय बनता है कि मैं बंधते हुए कर्मो का अवरोध करूं। यह बात मुख्य रूप में अशुभ कर्मों के सम्बन्ध में है। मैं संकल्पबद्ध होकर प्रत्येक क्षण अपनी क्रियाशीलता के विषय में यह ध्यान रखता हूँ कि वह अशुभता से दूर रहे। मैं सत्कार्यो में ही संलग्न रहूं, सत्वचन ही अपने मुंह से निकालूं तथा शुभ ध्यानों में ही अपनी चेतना को केन्द्रित करूं–इसका पक्का खयाल रखता हूँ। यह खयाल ही मुझे अशुभ कर्मों के बंध से बचाता है। इससे अशुभ कर्मो का अवरोध होता है। यह मेरी अवरोध शक्ति जितनी अधिक बढ़ती है, मैं अपने आत्म प्रदेशों को अशुभ कर्म संलग्नता से रक्षित बनाता जाता हूं।

अशुभ कर्मों के अवरोध में जब मुझे सफलता मिलने लग जाती है तब मेरी अभिलाषा जागती है कि मैं अपने आत्म प्रदेशों के साथ पहले से संलग्न कर्मो को भी समाप्त करना आरंभ करूँ ताकि मेरी आत्मा हलुकर्मा बनने लगे। यह शुभ कार्य मैं संयम की साधना एवं विविध प्रकार के तपों की आराधना के माध्यम से करना चाहता हूँ। मेरा संयम जितना सशक्त बनता है और तपाराधन जितना कठोर होता है, मेरे बंधे हुए कर्म या तो दबने लगते हैं या धीरे–धीरे क्षय को प्राप्त होने लगते हैं। इस प्रक्रिया को उपशम या क्षम कहते

हैं। कर्मों के उपशम की क्रिया भी अधूरी कहलाती हैं क्योंकि पूर्ण क्षय के बिना पूर्ण आत्म–विकास संभव नहीं होता है। राख के ढेर के नीचे दबे हुए अगारे कभी भी उघड जाने पर तथा हवा का बहाव पाने पर फिर से भडक सकते हैं और फिर से जल व जला सकते हैं अतः उन अंगारों को पूरी तरह बुझाये बिना निश्चिन्तता नहीं ली जा सकती है। उसी प्रकार उपशमित कर्मों की अवसर पाकर पुनः सक्रियता ग्रहण करने की आशंका बनी रहती है, इस कारण लक्ष्य को कर्म–क्षय के हेतु केन्द्रित कर लेना ही मैं श्रेयस्कर मानता हूँ।

इस श्रेष्ठ लक्ष्य से अनुप्राणित होकर मैं अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म की साधना को अधिक सशक्त बना लेता हूं। सांसारिकता के स्पर्श मात्र से तब मैं चौकने लग जाता हूँ और मुनि धर्म की सजगता को आत्मसात कर लेता हूँ। तब मेरी सुखद कामना बनती है कि मैं अशुभ कर्मो की तरह शुभ कर्मो का भी क्षय करने लगूँ। सम्पूर्ण कर्म–क्षय मेरा, अटल और अन्तिम ध्येय बन जाता है क्योंकि मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण कर्म क्षय के पश्चात् ही चेतन–जड़ संयोग से सम्पूर्ण मुक्ति हो सकती है। इस सम्पूर्ण मुक्ति को ही मैं मेरा मोक्ष मानता हूँ जब मेरी आत्मा सदा सर्वदा के लिये सिद्ध अवस्था में अवस्थित हो जायगी तथा ज्योति–रूप बन जायगी।

पाप–पुण्य मीमांसा

अपने मोक्ष के संदर्भ में मुझे पाप पुण्य की सम्यक् मीमांसा कर लेनी चाहिये ताकि आत्म विकास का मेरा ध्येय अटल बन सके।

पाप–पुण्य के सम्बन्ध में एक तथ्य को मैं पहले जान लूँ। मैं समझूं कि यह संसार एक महासागर के समान है जिसको पार करके मुझे दूसरे किनारे पर रहे हुए सिद्ध स्थल पर पहुँचना है। वर्तमान में मेरे आत्म–प्रदेश आठों कर्मो के जटिल बंधनों से बंधे हुए हैं। ये बंधन इतने जटिल हैं कि मैं महासागर के अतल जल में डूबता उतरता हूँ किन्तू अपनी तैरने की शक्ति का उपयोग भी नहीं कर पाता हूँ। तब मेरे विचारों में यह सत्य उभर कर ऊपर आता है कि मै तैरने की तनिक कोशिश भी तभी कर सकता हूं जब मेरे ये बंधन कम से कम कुछ तो ढीले हो। उस समय का मेरा अनुभव इतना कटुक और दुःखदायक होता है कि मैं इस महासागर में गुलांचे खाने के साथ मगरमच्छों और भयानक जन्तुओं अथवा तूफानों के रूप में आते हुए भीषण खतरों को निरीह दृष्टि से देखता हूं, उन खतरों में बुरी तरह क्षतविक्षत होता रहता हूँ किन्तु जटिल बंधनों के कारण अपने को बचा नहीं पाता हूं।

मेरी ऐसी दुरवस्था ही मेरी जागृति का कारण बनती है। तब मैं सोचता हूं कि अब भी मैं अपनी अज्ञान एवं मोह ग्रस्त क्रियाओं के सम्बन्ध में सतर्कता बरतूं और उन क्रियाओं की पुनरावृत्ति को जितनी रोक सकूं, रोकने का सत्प्रयास करूं। मेरा यह सत्प्रयास पाप कार्यों को समझ कर उनमें प्रवृत्ति रोकने से प्रारंभ होता है। पाप कार्यों का अठारह प्रकार का जो वर्गीकरण मैंने ऊपर बताया है, उसी पर मैं क्रमिक रूप से चिन्तन करना चाहता हूं कि कैसे अपने दैनिक जीवन में उनसे जितना अधिक हो सके बचता हुआ चलूं।

पापों और महापापों में पहला पाप स्थान माना गया है हिंसा को, इसी कारण अहिंसा को परम धर्म का नाम दिया गया है। महापाप की सम्पूर्ण निवृत्ति से ही परम धर्म की प्राप्ति हो सकती है। हिंसा की व्याख्या की गई है–प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। मैं जब सांसारिक जड़ पदार्थों की प्राप्ति की दिशा में अत्यन्त मोह–ग्रस्त बनकर प्रवृत्ति करता हूँ तब मेरे मन–मानस पर प्रमाद की प्रमत्ता छा जाती है। मैं बेभान हो जाता हूं और इतना तक नहीं देख पाता हूँ कि मैं अपनी किस क्रिया से कितने अन्य प्राणियों का वध कर रहा हूँ–उनका छेदन–भेदन कर रहा हूँ–उनके प्राणों (दस प्राण) को कष्ट पहुँचा रहा हूँ–उन पर शासन करके उनको अपने अधिकार में ले रहा हूं अथवा उनको हैरान और परेशान कर रहा हूँ। प्रमाद का ऐसा ही घातक प्रभाव होता है जिसमें मेरी चेतना शून्य सी बन कर इन्द्रियों के विषय–विकारों में रत बन जाती है। ऐसी मन–स्थिति में मैं जीव कर्म बंध का मादक भार एकत्रित कर लेता हूँ।

मैं जानता हूँ कि हिंसा का जन्म और विस्तार मेरे प्रमाद–योग से होता है। हिंसा के जितने निकृष्ट रूपों को मैं समझता हूँ तभी मेरे जागरूक ध्यान में अहिंसा के उत्कृष्ट रूप भी तैरने लगते हैं। मैं जब किसी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास या आयुष्य पर आघात करता हूँ और उसकी उससे पैदा होने वाली तड़पन को देखता हूँ तो मेरे अन्तःकरण में करुणा की लहरें भी उठने लगती हैं। किन्तु जब तक प्रमाद योग का मेरे मन मानस में प्रचंड रूप बना हुआ रहता है तब तक मैं उन प्राणियों की तड़पन में सुखानुभव भी करता हूँ और अट्टहास करता हुआ यह घमंड करता हूँ कि मैं कितना महाबली हूँ। यह मेरा सुखाभास घृणित ग्लानि में बदलने लगता है जब मैं कुछ सचेतन होकर करुणा–भाव की प्रतीति लेता हूँ। किन्तु मेरी ऐसी परिणति तभी उभर सकती है जब मैं मिथ्यात्व के अंधकार से निकल कर सम्यक्त्व के आलोक में गमन करने का संकल्प लेता हूँ।

सामान्यतया जब मैं अठारहों पापों में रचापचा रहता हूं तब हिंसा के क्रूर कार्य मुझे दूसरे पापों के पंक में घसीटते रहते हैं। मैं हिंसक होता हूं तो असत्यभाषी भी बन जाता हूँ। निःशंक होकर झूठ बोलता हूँ और झूठा आचरण करता हूँ जैसे कि मुझे अपनी इन दुष्प्रवृत्तियों का कोई कुफल भोगना ही नहीं पड़ेगा। हिंसा और झूठ से लैस होकर तब मैं चौर्य कर्म में प्रवृत्ति करता हूं। दूसरों द्वारा न दी हुई वस्तु को लेने की बात तो छोड़िये, मैं जोर–जबरदस्ती से दूसरे प्राणियों को प्राप्त वस्तुओं को छीन लेता हूँ और उनको वस्तुओं के अभाव में पटक कर दुःखित व पीड़ित बना देता हूँ। आज की जटिल आर्थिक व्यवस्था में तो मैं अपना वैभव और ऐश्वर्य अशक्त प्राणियों का शोषण करके प्राप्त करता हूँ क्योंकि यह प्रकृति का नियम है कि यदि सबको अपने निर्वाह के लिये नीतिपूर्ण श्रम करना हो तो उससे निर्वाह तो हो सकता है लेकिन संचय संभव नहीं। आज कुछ हाथों में अपार परिग्रह सत्ता और सम्पदा का जो संचय दिखाई दे रहा है, वह अधिकांश रूप शोषण के क्रूर कर्म से–अपने लाखों करोडों साथियों के उत्पीड़न से किया जाता है। यह सब अदत्तादान अथवा चौर्य कर्म का पाप है। मेरा दुष्टतापूर्ण अनुभव है कि जब–जब मैं हिंसक, झूठा और चोर बना हूं और मोह–प्रमत्त बनकर परिग्रह का संचय जुटा सका हूँ तब–तब मैं सांसारिक सुखों के पीछे पागल होकर भागा हूँ और सबसे पहले इन्द्रियों के तेतीस विषयों में लिप्त हुआ हूँ, जिसका मोहित कर देने वाला सबसे बड़ा रूप रहा है मैथुन। तब मैंने ब्रह्मचर्य को कुछ भी नहीं समझा तथा अपनी प्राप्त शक्तियों को कुशील सेवन में लगाने लगा। काम भोगों को ही मैंने सुख माना और बार–बार दुःखी होते हुए भी इसी सुख के लिये दौड़धूप की। मैथुन के साथ परिग्रह के संचय में मैंने अपार आसक्ति भी अपने मन में जमा करली। इस प्रकार इन पांच महापापों का मैं पुतला बन गया।

महापापी बनकर मैं पाप पंक में गहरे से गहरा धंसता ही चला गया। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह के विकार मुझे क्रोध, मान, माया और लोभ के विकार–क्षेत्र में ले गये। मैं हर बात पर क्रोध करने लगा क्योंकि मुझमें अपने वर्चस्व व अधिकारों का मान समा गया था। इसके साथ ही अपने उस झूठे मान को बनाये रखने के लिये मैं कपट पूर्ण चेष्टाएं करके माया का आचरण करने लगा। सांसारिक उपलब्धियों में इन दुष्टतापूर्ण वृत्तियो एवं प्रवृत्तियों के सहारे मुझे ज्यों–ज्यों लाभ होने लगा, त्यों–त्यो मेरा लोभ भी बढता गया। लोभ बढता और मैं अधिकाधिक लाभ पाने की लालसा से पापपूर्ण कार्यो मे अधिकाधिक दुष्टता से जुट पडता। मेरी संज्ञा–शून्यता लालसाओ की भडकती हुई उस आग में घी का काम करती।

लेता। अपनी रति–अरति के स्वार्थों में कपट सहित झूठ (माया मृषावाद) बोलने की जैसे मेरी आदत ही बन गई थी। और मेरी इस निकृष्टता का मूल कारण था मिथ्या–दर्शन शल्य याने मन, वचन एवं कर्म का मिथ्यात्व जो मुझे कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म के कुचक्रों में उलझाये रखता था।

आज मुझे मेरी उन कुवृत्तियों पर कठोर पश्चात्ताप होता है कि इन कुचक्रों के कुफल–स्वरूप मैं उस तरह के व्यवसाय करता था जो व्यक्ति–हित एवं समाज व्यवस्था के नाते निषिद्ध माने गये हैं। मैं व्यक्ति–हित और समाज व्यवस्था की तरफ आंखें मूंदे रहता था और सिर्फ अपने ही स्वार्थी लाभ के लिये लालायित बनता था। वे व्यवसाय, जो मैंने इन लालसाओं में भटक कर किये, इस प्रकार के थे (1) अंगार कर्म–सर्व प्राणियों के लिये सुखकर वनों के वृक्ष काट कर उनके कोयले बनाना तथा उसका व्यापार करना, (2) वन कर्म–वन खरीद कर या ठेके पर लेकर वृक्षों को काट कर या कटवा कर बेचना, (3) शाकट कर्म–गाडी, इक्का, बग्घी आदि पशु–वाहन बनाना तथा बेचना, (4) भाटक कर्म–भाड़ा कमाने के लिए पशु–चालित गाडी आदि से दूसरों के सामान को ढोना, ऊँट–घोडा–बैल आदि पशुओं को किराये पर देकर आजीविका चलाना, (5) स्फोटन कर्म–भूमि (खान) आदि फोडना और उसमें से निकले हुए खनिज पदार्थों को बेचना, (6) दन्त वाणिज्य–हाथीदांत, शंख आदि का व्यापार करना तथा ऐसे दांत आदि निकलवाने की व्यवस्था करना, (7) लाक्ष–वाणिज्य–भारी जीव–हिंसा के कारण रूप लाख, चपड़ी रेशम आदि पदार्थ निकलवाना व उनका व्यापार करना, (8) रस वाणिज्य–मदिरा आदि बनाने व बेचने का कार्य करना (9) केश वाणिज्य–दास, दासी, पशु आदि के बाल निकलवाना व उनका व्यापार करना, (10) विष वाणिज्य–संखिया आदि तरह–तरह के विष जन्तु–हत्या से निकलवाने तथा उनका व्यापार करना, (11) यंत्र पीडन कर्म–तिल, ईख आदि पेरने के यंत्र चलाना व चलवाना तथा उसका धंधा करना, (12) निर्लाछन कर्म– बैल, घोड़े आदि को नपुंसक बनाने का धंधा करना, (13) दवाग्निदायक कर्म–जंगल आदि में आग लगाने या लगवाने का धंधा करना, (14) सरोद्रह तडाग शोषण कर्म–झील, कुंड, तालाब आदि को सुखाने का धंधा करना एवं (15) असतीजन पोषण कर्म–अपनी आजीविका चलाने के लिए दुष्चरित्र स्त्रियों, शिकारी प्राणियों आदि का पोषण करना। तब मैं नहीं समझता था कि अहिंसा में विश्वास रखने वाले एक साधक को ऐसे हिंसापूर्ण व्यवसाय नहीं अपनाना चाहिये। अपनी आजीविका मुझे अहिंसक उपायों तथा नैतिकता के साथ ही चलानी चाहिये–यह

भान मुझे बाद में उपजा। हिंसा-भरे व्यवसाय चलाते हुए भला कोई भी अहिंसा पालन की दिशा में आगे कैसे बढ सकता है ?

मैं अब जान गया हूँ कि ये सब कर्मादान पापों के द्वार हैं जिन्हें बन्द करके ही मैं अपनी अशुभता को घटा सकता हूँ तथा अपने मन, वचन एवं कर्म की शुभता को बढ़ा सकता हूँ। यह शुभता जब बढ़ती है तो मेरे आत्म प्रदेशों से अशुभ कर्मो का बंध ढीला होता है तथा शुभ कार्यो के बंध से पुण्य कर्मो का उपार्जन होता है। शुभता की निर्जरा के साथ कभी उस मनोदशा में लोकोपकारी कार्य करने की मेरी शक्ति भी संगठित बनती है एवं सत्कार्य करते रहने का मेरा संकल्प भी सुदृढ़ होता है। मन, वचन एवं काया के शुभ योगों के प्रवर्तन काल में मैं पुण्य कार्य करने का अभिलाषी एवं समर्थ बनता हूँ। पुण्य रूप शुभ कर्मो का बधं नौ प्रकार से हो सकता है। मैं जरूरतमन्द और योग्य पात्र को भोजन के लिये अन्न दूं, दूध पानी वगेरा पीने की वस्तुएँ सुलभ करूँ, आवश्यक वस्त्र प्रदान करूं, ठहरने के लिए स्थान उपलब्ध कराऊं तथा बिछाने व सोने के लिए पाटला बिस्तर आदि दूं तो क्रमशः अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन पुण्य व शयन पुण्य रूप शुभ कर्म का मेरे बंध होगा। इसके सिवाय गुणियों को देखकर मन में प्रसन्नता का अनुभव वाणी के द्वारा योग्यों की प्रशंसा एवं शरीर से गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा करने से मन, वचन एवं काया पुण्य का अर्जन होता है। अन्तिम नौवां पुण्य-कार्य माना गया है नमस्कार को कि मैं भाव भक्ति पूर्वक अपने पूज्य एवं गुरुजनों को नम्रता से वन्दन आदि करूं। ये पुण्योपार्जन के कारणभूत पवित्र कार्य कहे गये हैं जिनके लिये यदि मैं यथास्थान यथासमय एवं यथाशक्ति अपनी कर्मण्यता का अर्पण करूँ तो मेरे पुण्य कर्मो का बंध संभव बनता है।

मैं यह भी जान गया हूँ कि यदि मेरे शुभ पुण्य कर्मो का बंध हो जाता है तो उनकी तारतम्यता के अनुसार इस प्रकार से उनका शुभ फल भी मुझे प्राप्त हो सकता है कि मैं साता वेदनीय का अनुभव करूँ याने कि मुझे सुख प्रदायक साधन सामग्री मिले। मुझे गति अनुपूर्वी तथा आयु में मनुष्य या देव जन्म मिल सकता है तथा उच्च गौत्र भी। पांचों प्रकार के शरीर पंचेन्द्रिय जाति के साथ श्रेष्ठ अंगोपांग, संहनन व संस्थान युक्त भी मुझे मिल सकते हैं। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श शुभ रूप तो अगुरु-लघु, पराघात, श्वासोश्वास, आतप और उद्योत भी पूर्ण शुभता से मुझे प्राप्त हो सकते हैं। नाम की दृष्टि से त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुखद, आदेय और यशः कीर्ति नाम भी सुलभ हो सकते हैं। और तो और पुण्य कर्म के बंध की उच्च

स्थिति बने तो तीर्थंकरत्व भी प्राप्त हो सकता है।

मैं ऊपर यह बताने का प्रयास कर रहा था कि संसार रूपी इस महासागर में जटिल कर्म बंध से बंधी हुई मेरी आत्मा अपने बचाव का कोई उपाय नहीं कर सकती है जब तक कि वह पहले जटिल बंधनों को ढीले करने की कोशिशें न करे। कर्म बंधनों को ढीला करने का, धीरे–धीरे काटने का और अन्त में उनका सम्पूर्ण रूप से क्षय कर देने का यही उपाय है कि पाप कार्यों में निरन्तर होती हुई अपनी प्रवृत्ति का निरोध किया जाय एवं उनके स्थान पर शुभ कार्यों का ऐसा क्रम चलाया जाय कि शुभ पुण्य कर्मों का बंध हो। इसके फलस्वरूप मेरे कर्मों के वे जटिल बंधन ढीले पड़ने लगेंगे। जब बंधन ढीले पड़ने लगेंगे तो हाथ–पांव अपनी ताकत दिखाने के लिये कुछ–कुछ आजादी पाने लगेंगे। हाथ पांवों को योग्य रीति से चला–चलाकर मैं एक ओर अपने को डूबने से बचाने की कोशिश करने लगूंगा तो दूसरी ओर अपने अंगों के लिये अधिक आजादी पाते रहने की चेष्टा में लगूंगा। इस बीच मेरे पुण्योदय से मुझे ऐसे अनुकूल साधनों की प्राप्ति भी हो सकेगी कि जिनकी सहायता से मैं इस महासागर के पार जा सकूं। अर्थात् मैं पानी में न डूबूं और अपना तैरना जारी रख सकूं–ऐसा उपकरण मिल जाय या मजबूत नौका ही प्राप्त हो जाय–ताकि मैं महासागर में मुझे डुबोने की चेष्टा करने वाली लहरों और आँधियों का कामयाब मुकाबला कर सकूं। अधिक पुण्योदय हो तो मुझे सुविधा सम्पन्न बडा जहाज भी मिल सकता है जिसके कारण महासागर में मेरे डूबने का खतरा ही न रहे और उसे पार कर लेने की सुनिश्चितता पैदा हो जाय। ये सब उपलब्धियाँ पूर्व कृत पुण्य कार्यों के फलोदय में मिल सकती है। पाप कर्मों के बंध समय–समय पर प्रतिकूलताएं पैदा करते हैं। जिनके कारण धर्माराधना में नित नई बाधाएँ खड़ी होती हैं तो आत्म विकास में स्वस्थ अभिरुचि का ही अभाव बन जाता है। दूसरी ओर पुण्य कर्मों के बंध से फलोदय के समय ऐसी अनुकूलताएँ और उत्साहवर्धक परिस्थितियाँ पैदा होती रहती हैं कि आत्म–विकास की महायात्रा में आगे बढते हुए हर तरह के शुभ संयोग सुलभ होते हैं। धर्म में रुचि, धर्म में आस्था तथा धर्म मे पराक्रम दिखाने की प्रवृत्ति इसी पुण्य कर्म तथा उसके फल से प्राप्त अनुकूलताओं के आधार पर सफलता के सूत्र प्रकट करती है। पाप कर्मों का फलोदय मुझे सांसारिक दुःखो के इस महासागर में गहरे डुबोता है तो पुण्य कर्मों का फलोदय इस महासागर को तैर कर पार करने की अच्छी से अच्छी क्षमताएँ मुझे प्रदान करता है। पाप पुण्य की मीमांसा में मैं इस सत्य को भी ध्यान में

ले लेना चाहता हूँ कि चरम लक्ष्य के रूप में पाप कर्मों के साथ पुण्य कर्मों का भी क्षय करना पड़ता है क्योंकि कैसे भी कर्मों का बंध हो वह चेतन–जड़ संयोग की नींव को नहीं तोड़ता है जबकि इस संयोग की बुनियाद को पूरी तरह से नेस्तानाबूद करने के बाद ही मेरी आत्मा को पूर्ण स्वतंत्रता मिल सकेगी। सभी कर्मों का बंध समाप्त हो जायगा तभी उनका फल भोग भी समाप्त होगा। पाप कार्यों से निवृत्ति इसलिये अनिवार्य होती है कि संसार रूपी महासागर में गहरे डूब जाने से अपनी आत्मा की रक्षा करूं तो 'पुण्य कार्यों की प्रवृत्ति से मुझे वे साधन सुलभ हो सकेंगे जिनकी सहायता से मैं कुशलता एवं सफलता पूर्वक उस महासागर के पार पहुँच सकूं।

किन्तु यह भी मैं जानता हूँ कि इस महासागर के उस पार पहुँच जाने के बाद वहाँ की भूमि पर मैं अपना पांव तभी रख सकूंगा जब मैं पार पहुँचाने वाली नाव या जहाज को भी छोड़ दूं। एक कर्म डूबोता है तो दूसरा कर्म तैराता है, लेकिन महासागर से पार पा लेने के बाद दोनों कर्मों को त्यागना आवश्यक हो जाता है। पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाय परन्तु जब तक पुण्य कर्मों को भी मैं नहीं खपाऊँगा, तब तक मेरा मोक्ष नहीं हो सकेगा। जड़–चेतन संयोग रूप सांसारिकता की पूर्ण समाप्ति तभी प्रकट होगी जब सम्पूर्ण क्रियाएँ एवं सम्पूर्ण कर्म बंधन भी समाप्त हो जायेंगे।

मैं सोचता हूँ कि जब तक पाप कार्यों से सम्पूर्णतया निवृत्ति संभव नहीं बनती है, तब तक मुझे पुण्य कर्म के बंध के शुभ प्रयास करते रहने चाहिये। पुण्य के प्रतिफल रूप जो अनुकूल संसाधन उपलब्ध होते रहेंगे, उनकी सहायता से मुझे मेरी साधना में अधिकाधिक शक्ति प्राप्त होती रहेगी।

मोक्ष का चरम चरण

यह मेरी आत्मा के पराक्रम और पुरुषार्थ का चरम चरण होगा कि मैं अपनी सर्व कर्म बंधन समाप्ति के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति करलूं। इस दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर पुण्य कर्म के उपार्जन की विभिन्न स्थितियाँ रहती हैं। पहले स्तर पर जब तक कि मनुष्य जन्म आर्य क्षेत्र आदि की धर्माचरण की अनुकूलताएँ न मिलें–पुण्य को उपादेय मानना होगा, कारण इन पुण्य प्रकृतियों की प्राप्ति के बिना मुझे चारित्र की प्राप्ति ही संभव नहीं हो सकेगी। परन्तु जब मुझे चारित्र की प्राप्ति हो जायगी तथा एक साधक की अवस्था में जब मैं अवस्थित हो जाऊँगा तब पुण्य मेरे लिये उपादेय न रहकर मात्र ज्ञेय हो जायगा। और आत्मा को चौदहवें सर्वोच्च गुण स्थान में चारित्र की पूर्णता मिल जाने पर यही पुण्य भी हेय हो जाता है क्योंकि उसको त्यागे वगैर मोक्ष

के महिमामय क्षेत्र में प्रवेश नहीं मिल सकता है। सभी कर्म प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही मेरी आत्मा का चरम चरण मोक्ष के महात्म्य का वरण करेगा। मुझे समझना चाहिये कि यह मोक्ष क्या होता है, किस मार्ग से मोक्ष की तरफ आगे बढ़ा जा सकता है और किन द्वारों से मोक्ष के महल में प्रवेश मिलता है ?

अनादिकाल से संसार में जड़ के साथ आबद्ध इस आत्मा को जड़ के बंधन से पूर्णतया मुक्त कर लेने का नाम ही मोक्ष है। जैसे एक दर्पण पर मैल और कालिख जम जाती है तो उसमें स्वरूप दर्शन नहीं हो सकता है। यदि मैल और कालिख की परत हल्की हुई तो उसमें हल्की ही सही–प्रतिच्छाया दिखाई दे सकती है। किन्तु मैल और कालिख की परतें यदि एक पर एक करके कई चढ़ी हुई हो तो उसमें प्रतिबिम्ब की तनिक झलक भी नहीं देख सकेंगे। तो क्या उस समय यह माना जा सकता है कि दर्पण की दर्शन क्षमता ही नष्ट हो गई है ? कोई यह नहीं मानेगा बल्कि यही कहेगा कि दर्पण पर जमे मैल को मल मलकर धो–पौंछ लीजिये और फिर देखिये कि उसकी मूलरूप में रही हुई दर्शन क्षमता पुनःप्रकट हो जाती है या नहीं।

मेरी धारणा है कि यही स्थिति मेरी आत्मा की भी है। चेतना का प्रवाह या आत्मा की शक्तियाँ कभी भी अस्तित्वहीन नहीं होती है, मात्र उनकी प्रभा निस्तेज हो जाती है। उसका भी दर्पण वाला ही कारण होता है। कर्मों का चढ़ा हुआ मैल अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की कठिन साधना से धो–पौंछ डालूं तो मेरा अटल विश्वास है कि मेरा भी आत्म स्वरूप सिद्ध स्वरूप की परम उज्ज्वलता का वरण कर लेगा। महत्त्वपूर्ण यही पुरुषार्थ है कि कर्म मैल को पूरी तरह से साफ कर लिया जाय तो इन चार मार्गों से संभव है–(1) सम्यक् ज्ञान, (2) सम्यक् दर्शन, (3) सम्यक् चारित्र एवं (4) तपाराधन। सत्पद प्ररूपणा–मोक्ष सत्स्वरूप है क्योंकि मोक्ष शुद्ध एवं एक पद है। संसार में जितने भी एकपद वाले पदार्थ हैं, वे सब सत्स्वरूप हैं–जैसे घट पट आदि। दो पद वाले पदार्थ सत् और असत् दोनों हो सकते हैं–जैसे खरश्रृंग या वन्ध्यापुत्र असत् है तो गौ–श्रृंग, राजपुत्र सत् स्वरूप हैं। अतः मोक्ष का एक पद वाच्य होने से सत्स्वरूप है। जिन मार्गणाओं (उपलब्धियों) से युक्त जीव मोक्ष जा सकते हैं, वे मार्गणाएँ मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रसकाम, भावसिद्धिक, संज्ञी, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन है। इनके अतिरिक्त चार मार्गणाओं–कषाय, वेद, योग एवं लेश्या से युक्त जीव मोक्ष नही जा सकते हैं।

मोक्ष के विभिन्न द्वारों का वर्णन इस प्रकार हैं–(1) द्रव्य द्वार–सिद्ध जीव अनन्त हैं, (2) क्षेत्र द्वार–लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में सब सिद्ध अवस्थित हैं (3) स्पर्शन द्वार–लोक के अग्रभाग में सिद्ध रहे हुए हैं, (4) काल द्वार–एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त हैं और सब सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं। (5) अन्तर द्वार–सिद्ध जीवों में अन्तर नहीं हैं क्योंकि कोई पुनः संसार में आकर जन्म नहीं लेता तो सब सिद्ध केवल ज्ञान व केवल दर्शन की अपेक्षा से एक समान होते हैं, (6) भाग द्वार– सिद्ध जीव संसारी जीवों के अनन्तवें भाग हैं। (7) भावद्वार–औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक रूप पांच भावों में से सिद्ध जीवों में केवल ज्ञान व केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव और जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही होते हैं, (8) अल्प बहुत्व द्वार–लिंग की अपेक्षा से सबसे थोड़े नपुंसक सिद्ध, स्त्रीसिद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक और पुरुषसिद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार आत्मा का कर्म रूपी बंधन से सर्वथा छूट जाना तथा सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों से सभी कर्मों का क्षय होना 'मोक्ष' कहलाता है।

कभी मेरे मन में शंका उठती है कि मोक्ष है भी या नहीं। तभी मुझे आप्त वचनों का ध्यान आता है कि जिनमें संशय के प्रकार भी बताये हैं तो उनका समाधान भी किया गया है। संशय के बिन्दु ये हैं– (1) यदि मोक्ष नहीं है तो क्या आत्मा दीपक के समान है जो जैसे दीपक बुझ जाता है तो उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है ? (2) क्या कर्म और जीव का सम्बन्ध जैसे अनादि है वैसे अनन्त भी है ? अथवा (3) क्या राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोग, आदि दुःखों के क्षय हो जाने पर आत्मा का मोक्ष हो जाता है और फिर भी उसका अस्तित्व बना रहता है ? इन सन्देहों को दूर करके सही समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि दीपक की तरह आत्मा का सर्वनाश मानना उचित नहीं है क्योंकि किसी भी वस्तु का सर्वनाश नहीं होता है। दूध की पर्याय दही में तो घड़े की पर्याये ठीकरों में बदल जाती है। उसी प्रकार दीपक बुझ जाने के बाद वह अंधकार की पर्याय में बदल जाता है। दीपक भी पहले चक्षुरिन्द्रिय से जाना जाता है और बुझने पर घ्राणेन्द्रिय से जाना जाता है जिससे प्रमाणित है कि उसका सर्वथा समुच्छेद नहीं होता है। इसी प्रकार आत्मा का भी मोक्ष हो जाने पर उसका सिद्ध स्वरूप बन जाता है। इस कारण कर्म जीव का सम्बन्ध अनादि अवश्य है किन्तु अनन्त नहीं है, क्योंकि सभी प्रकार के दुःखों के नष्ट हो जाने पर आत्मा परम सुख को प्राप्त होती है–यही उसका मोक्ष है जहाँ पर भी वह अपने अस्तित्व को बनाये रखती

है। सभी प्रकार की बाधाओं व आवरणों का नष्ट हो जाना ही परम सुख का हेतु बनता है। कभी यह भी शंका हो कि पाप से दुःख होता है तो पुण्य से सुख-फिर पुण्य कर्म भी नष्ट हो जाने से मोक्ष में सुख कैसे मिलेगा ? उसका समाधान है कि पुण्य से होने वाला सुख वास्तविक नहीं होता है क्योंकि वह कर्मो के उदय से होता है। वास्तविक सुख कर्मो के सभी आवरणों के समाप्त हो जाने से ही मिलता है। यही कारण है कि इस संसार में बड़े-बडे चक्रवर्ती सम्राट भी सुखी नहीं रहे। संसार का सुख मात्र सुखाभास होता है। जैसे कि प्यास लगने पर पानी पिया तो सुख अनुभव हुआ किन्तु थोड़ी देर बाद फिर प्यास का दुःख सताने लग जाता है। संसार का सुख विकारों का सुख होता है जो क्षणिक होता है किन्तु सर्व विकार समाप्ति के पश्चात् मोक्ष का जो सुख मिलता है, वह शाश्वत और अव्याबाध होता है एवं सर्व इच्छाओं से परे परम समाधियुक्त होता है।

मैं मोक्ष के संदर्भ में इस आप्त वचन का पुनः पुनः स्मरण करता हूँ कि सम्यक् ज्ञान द्वारा आत्मा नव तत्त्वों के स्वरूप को जानती है, सम्यक् दर्शन द्वारा उस पर श्रद्धा करती है तथा सम्यक् चारित्र एवं तप की आराधना द्वारा नवीन कर्मो के आगमन को रोकती एवं पुराने कर्मो को नष्ट करके अपने परम शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है। यह सत्य मेरे अन्तर्हृदय में गहरे पैठा हुआ है और मैं मानता हूँ कि मोक्ष ही आत्म-विकास की महायात्रा का गतव्य है।

सम्यक्त्व की प्रकाशकिरणें

संसार की प्रगाढ़ मोहग्रस्तता से मेरी आन्तरिकता जब पूरी तरह से व्यामोहित रहती थी, तब मैं अज्ञान के अंधकार में ही गोते लगाता था और इस मिथ्याज्ञान को ही सत्य मानता था कि जो कुछ इस संसार के सुख हैं, वे ही सच्चे सुख हैं तथा उन्हें येन केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने में ही मुझे अपना सम्पूर्ण श्रम लगा देना चाहिये। इस मिथ्या ज्ञान पर ही मेरी श्रद्धा आधारित रहती थी अतः यह श्रद्धा भी मिथ्या थी। मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या श्रद्धा के आधार पर मेरे सभी कार्य कलाप भी तदनुसार चलते थे जिसके कारण मेरा आचरण भी मिथ्या था। यह सब मेरे आत्म स्वरूप पर छाया हुआ मिथ्यात्व का कलंक था।

किन्तु जब मैंने नव तत्त्वों की जानकारी ली एवं जीव-अजीव के सम्बन्धों की पहिचान की तो मुझे मिथ्यात्व का यथावत् रूप कुछ-कुछ समझ में आने लगा। क्या मिथ्यात्व है और क्या सम्यक्त्व है-इसका हल्का-सा आभास होने लगा। जब यह जाना कि जीव किस प्रकार की अपनी क्रियाओं

से पाप और पुण्य–दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय कर सकता है तथा परम सुख रूप मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है तब अंधकार की परतें मेरे मन–मानस पर से हटने लगी। अंधकार को चीरती हुई तब कुछ प्रकाश–किरणें वस्तु–स्वरूप का यथावत् दर्शन कराने लगी। मैं तब समझ पाया कि ये ही सम्यक्त्व की प्रकाश किरणें थी।

ज्यों–ज्यों मिथ्यात्व के काले बादल छंटने लगे, त्यों–त्यों प्रकाश का घनत्व बढ़ने लगा। मिथ्यात्वपूर्ण धारणाओं, श्रद्धानों तथा क्रियाकलापों में जब शुद्धता एवं वास्तविकता का प्रवेश होने लगा तब मुझे आन्तरिक आनन्द मिला और मेरे अन्तर्मन ने कहा कि यह सम्यक्त्व का प्रवेश है–धारणाओं, श्रद्धानों एवं क्रिया कलापों को विशुद्ध बनाते रहने की प्रक्रिया का प्रारंभ है।

मुझे याद है कि तभी तेरे अन्तःकरण में मिथ्यात्व और सम्यक्तव का द्वन्द्व छिड़ गया था। प्रकाश के प्रकट होते ही अंधकार में हड़कम्प मच गया था। मेरी शनैःशनैः जागती हुई चेतना ने अंधकार में फैले भय को महसूस किया था–मिथ्यात्व का खोखलापन जाहिर होने लगा था। अपनी चेतना की जागृति के बाद मिथ्यात्व का हौंसला भी ढीला पड़ने लगा था। उसकी आक्रामक शक्ति कमजोर होने लगी थी। सम्यक्त्व की प्रकाश किरणों की उपस्थिति में मेरी चेतना को विश्वास होने लगा कि अब तक मिथ्यात्व को पकड़ कर वह जो अपने को निश्चिंत और सुखी मान रही थी, भ्रमपूर्ण था। और इस प्रकार उसका भ्रम टूटने लगा था।

मैं धीरे–धीरे सम्यक्त्व का स्वरूप समझने लगा। जैसे कमजोर नजर वाला चश्मा लगा कर स्पष्ट देखने लग जाता है, वैसे ही उस अंधकार में सम्यक्त्व का जो चश्मा मेरी दृष्टि पर चढ़ा तो उससे मिथ्यात्व का मारक स्वरूप भी मुझे दिखाई देने लगा और सम्यक्त्व का तारक स्वरूप भी। विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्‌गलों से मुझे द्रव्य सम्यक्त्व मिला और केवली प्ररूपित तत्त्वों में जो रुचि और श्रद्धा जमी, उससे मुझे भाव–सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। द्रव्य एवं भाव सम्यक्त्व की उपस्थिति से मेरे आत्म स्वरूप को विशुद्ध से विशुद्धतर बनाने का एक सुव्यवस्थित क्रम भी तब चल पड़ा। इसी क्रम से मेरी आशा बंधी कि अब मेरी आत्मा गुणस्थानों के उत्कृष्ट सोपानों पर चढ़ने लगेगी और एक दिन मोक्ष रूप परम सुख को प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य भी जुटा सकेगी।

तब मुझे सम्यक्त्व के विविध रूपों की भी अनुभूति होने लगी। मैंने

जाना कि सम्यक्त्व द्रव्य रूप भी होता है और भाव रूप भी। पौद्गलिक परिणमन उसका द्रव्य रूप है तो सम्यक्त्व तत्त्वों में सम्यक् अभिरुचि के विकास से उसका भाव रूप बनता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व को निश्चय एवं व्यवहार के दो रुपों में भी देख सकते हैं। आत्मा का वह परिणाम जिसके होने से ज्ञान शुद्ध होता है, वह निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म में विश्वास करने का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के कारणों को भी व्यवहार सम्यक्त्व का ही नाम दिया जाता है। सम्यक्त्व का एक अन्य स्वरूप नैसर्गिक एवं आधिगमिक संज्ञाओं से भी जाना जाता है। पूर्व क्षयोपशम के कारण बिना गुरु–उपदेश के स्वभाव से ही वीतराग–दृष्ट भावों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नाम आदि निक्षेपों से जान लेना तथा श्रद्धा करना नैसर्गिक सम्यक्त्व है जैसा कि मरुदेवी माता को हुआ था। इसका आधिगमिक सम्यक्त्व गुरु आदि के उपदेश से अथवा अंग उपांग आदि के अध्ययन से जीवादि तत्त्वों पर रुचि एवं श्रद्धा होना कहलाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का स्वरूप पौद्गलिक तथा अपौद्गलिक माना गया है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पौद्गलिक सम्यक्त्व कहते हैं क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में समकित मोहनीय के पुद्गलों का वेदन होता है। किन्तु अपौद्गलिक सम्यक्त्व मे समकित मोहनीय का सर्वथा नाश अथवा उपशम हो जाता है, उसका वेदन नहीं होता है। यह क्षायिक और औपशमिक रूप सम्यक्त्व होता है।

एक अन्य दृष्टि से सम्यक्त्व को कारक, रोचक एवं दीपक रूप में भी परिभाषित किया गया है। जिस सम्यक्त्व के प्रकट होने पर चारित्र में परिणति हो, अथवा जिस आचरण से सम्यक्त्व का आविर्भाव हो, जो स्वयं मे चारित्र का पालन करता हो व दूसरों को प्रेरित करता हो उस समय उसका कारक रूप दिखाई देता है। रोचक सम्यक्त्व वह है जिसमें आत्मा सदनुष्ठान (चारित्र) में रुचि तो लेती है लेकिन स्वयं सदनुष्ठान (चारित्र) का आचरण नहीं कर पाती है। यह रोचक रूप चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा को होता है। तीसरे, जो मिथ्या दृष्टि आत्मा स्वयं तत्त्व श्रद्धान से शून्य होते हुए दूसरों में उपदेशादि द्वारा तत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करवाती है उस आत्मा के सम्यक्त्व का स्वरूप दीपक रूप होता है। दीपक सम्यक्त्वधारी स्वयं तो मिथ्यात्वी होता है किन्तु उपदेश आदि रूप परिणाम द्वारा दूसरों में सम्यक्त्व उत्पन्न करने में वह कारण रूप बनता है, इसी दृष्टि से उसे भी सम्यक्त्वी कहा है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक रूप भी होते

है। अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम औपशमिक सम्यक्त्व होता है। अनन्तानुबन्धी चार कषायों के तथा दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के क्षय होने पर जो परिणाम-विशेष प्रकट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। उदय प्राप्त मिथ्यात्व के क्षय से और अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व के उपशम से एव समकित मोहनीय के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

मैंने सम्यक्त्व के तीन लिंगो (चिन्हों) की पहिचान की है जो इस प्रकार है-(1) श्रुत धर्म में राग-जितना तरुण पुरुष रंग-राग में अनुरक्त रहता है, उससे भी अधिक शास्त्र-श्रवण में अनुरक्त रहना, (2) चारित्र धर्म में राग-जिस प्रकार तीन दिन का भूखा मनुष्य खीर आदि का आहार रुचिपूर्वक करना चाहता है, उससे भी अधिक चारित्र धर्म पालने की इच्छा रखना, तथा (3) देव गुरु की वैयावृत्य का नियम-देव और गुरु में पूज्य भाव रखना और उनका मान-सम्मान रूप वैयावृत्य का नियम करना। सम्यक्त्व की तीन शुद्धियॉं भी इस दृष्टि से बताई गई है कि वीतराग देव, वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित धर्म एवं वीतराग देव की आज्ञानुसार विचरने वाले साधु ही विश्व में सारभूत है ऐसा विचार करना।

मैंने सम्यक्त्व के पाँच भेदों पर भी विचार किया है जो सम्यक्त्व के सभी पहलुओं पर रौशनी डालते हैं-(1) उपशम सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों-कुल सात प्रकृतियों के उपशम से प्रकट होने वाला तत्त्व-रुचि रूप आत्म परिणाम उपशम सम्यक्त्व कहलाता है जिसकी स्थिति अन्तर्मुहुर्त की होती है। (2) सास्वादान सम्यक्त्व-उपशम सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर आते हुए जीव के, मिथ्यात्व में पहुँचने से पहले जो परिणाम रहते हैं, वही सास्वादान सम्यक्त्व है। इस समय कषायों का उदय रहने से परिणाम निर्मल नहीं रहते। (3) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-कषायों के उदय से प्राप्त मिथ्यात्व को क्षय करके अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते हुए जीव के परिणाम-विशेष को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। (4) वेदक सम्यक्त्व-क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सम्यक्त्व मोहनीय के पुंज का अधिकांश क्षय करने वाला जीव जब समकित मोहनीय के आखिरी पुद्गलों को वेदता है, तब होने वाले आत्म-परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। तथा (5) क्षायिक सम्यक्त्व-कषाय व दर्शन मोहनीय की सातों प्रकृतियों

के क्षय होने से होने वाला जीव का तत्त्व रूप परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व सादि किन्तु अनन्त होता है।

मुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है या नहीं–इसकी पहिचान सम्यक्त्व के लक्षणों के आधार पर ही की जा सकती है, अतः सम्यक्त्व के लक्षणों को भलीभांति हृदयंगम कर लेना मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूँ जो इस प्रकार हैं (1) सम–तीव्रतम कषाय के उदय में नहीं आने से जो शान्ति भाव उत्पन्न होता है उसे सम कहते हैं, (2) संवेग–मनुष्य एवं देवता जातियों के सुखों का परिहार करके मोक्ष के सुखों की अभिलाषा रखने का नाम संवेग है, (3) निर्वेद–संसार से उदासीनता रूप वैराग्य–भाव का होना निर्वेद कहलाता है, (4) अनुकम्पा–निष्पक्ष होकर दुःखी प्राणियों के दुःखों को मिटाने की भावप्रवणता का नाम अनुकम्पा है। यह द्रव्य और भाव रूप होती है। शक्ति होने पर दुःखी जीवों के दुःख दूर करना द्रव्य अनुकम्पा है तो दुःखी जीवों के दुःख देखकर दया से हृदय का कोमल हो जाना भाव अनुकम्पा है (5) आस्तिक्य–वीतराग देवों द्वारा उपदेशित तत्त्वों पर श्रद्धा रखने का नाम आस्तिक्य है।

सम्यक्त्व से सम्बन्धित इस शास्त्रीय विवेचन से यह मुझे स्पष्ट हो गया है कि नवतत्त्व एवं षड् द्रव्यों के स्वरूप में अर्थात् संसारी जीव को सिद्ध स्वरूप बनाने की प्रक्रिया में दृढ़ आस्था हो जाने का नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के मूलाधार रूपी आस्था के ये छः स्थान कहे गये हैं– (1) चेतना लक्षण जीव का अस्तित्व है, (2) जीव शाश्वत अर्थात् उत्पत्ति और विनाश रहित है, (3) जीव कर्मों का कर्त्ता है, (4) अपने किये हुए कर्मों का जीव स्वयं भोक्ता है, (5) राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोगादि का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष है तथा (6) सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग है।

मेरा विचार है कि सम्यक्त्व के उल्लिखित सड़सठ बोलों के माध्यम से सम्यक्त्व का चहुंमुखी स्वरूप सुबोध हो जाता है, वे भेद इस प्रकार हैं–श्रद्धा 4 (परम अर्थ परिचय, परम अर्थ सेवा, मिथ्या की संगत नहीं, पाखंडी की संगत नहीं), लिंग 3 (तरुण की रागरंग रुचि से अधिक धर्म रुचि, भूखे को खीर की इच्छा से भी अधिक धर्माभिलाषा, वैयावृत्य), विनय 10 (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, स्वधर्मी, क्रियावन्त का यथायोग्य सम्मान), शुद्धि 3 (वीतराग देव, वीतराग धर्म तथा वीतराग आज्ञा में चलने वाले साधु को ही लोक में सारभूत मानना), लक्षण 5 (सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था), दूषण 5 (शंका, कांक्षा, वितिगिच्छा, पर पाखंडी

प्रशंसा, पर पाखंडी परिचय), भूषण–5 (धीरजवन्त, दिपावनहार, भक्ति–भावी, चतुर, संघ सेवक), प्रभावक 8 (सूत्र ज्ञान, प्रबोध, यथार्थ वाद–विवाद, त्रिकाल ज्ञान, तपश्चर्या, विधा ज्ञान, प्रसिद्ध व्रत, शास्त्र प्रयोग), आगार 6 (देवता, राजा, माता–पिता, पंच, बलवन्त, अटवी में भय) जयणा 6 (आलाप, संलाप, दान, प्रदान, वन्दना, गुणग्राम), स्थानक 6 (नगर में द्वार समान, वृक्ष में बीज समान, दुकान में वस्तु समान, मंजूषा में रत्न समान, थाल में भोजन समान, किले में कोट समान), भावना 6 (चेतना लक्षण, द्रव्य शाश्वत्, आत्मा कर्त्ता, भोक्ता, भवि को मोक्ष, मोक्ष मार्ग) सार रूप में सम्यक्त्व की संक्षिप्त परिभाषा यह है कि वीतराग देवों द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना।

सम्यक्त्व की ईंट पर मोक्ष का महल

मिथ्यात्व का स्वरूप एवं नौ तत्त्वों का विश्लेषण समझ लेने के बाद मेरे सामने सम्यक्त्व का स्वरूप स्पष्टतर हो गया है। एक महल बनाया जाता है किन्तु उसके अनुसार ही उसकी नींव भी होनी चाहिये। नींव अगर कमजोर हो और महल बड़ा व सुन्दर भी बना लिया जाय तब भी क्या वह टिका रहेगा ? उसकी मजबूती नहीं मान सकते हैं। नींव को ईटें जितनी पुख्ता होगी, महल की मजबूती भी उतनी ही पक्की बनेगी। इस दृष्टि से यह मानने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि सम्यक्त्व रूपी नींव की ईंटों के आधार पर ही मोक्ष का महल बनता है।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों दो प्रकार की नींव की ईंटे हैं। मिथ्यात्व संसार के नश्वर सुखाभासों का महल खड़ा करता है तो सम्यक्त्व की नींव पर मोक्ष का महल खड़ा होता है जो एक भव्य एवं विकासशील आत्मा का चरम लक्ष्य माना गया है। सम्यक्+त्व का अर्थ होगा सत्यपना याने कि सत्य पर आत्म विकास की महायात्रा को प्रतिष्ठित करना। सत्य में मन, वाणी और कर्म का समावेश होना चाहिये। सम्यक्त्व इन तीनों प्रकारों में जब फैल जाता है तभी आत्म विकास की बुनियाद बनती है। यह बुनियाद है सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर पूर्ण श्रद्धा–जिसके कारण सम्यक्त्व का उद्भव होता है तथा मन, वाणी एवं कर्म की समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में सम्यक्त्वरूप शुभता का प्रसार तथा विस्तार।

मैं इसे एक श्रेष्ठ विशिष्टता मानता हूँ कि इस सम्यक्त्व में कहीं भी साम्प्रदायिकता अथवा व्यक्ति–पूजा को कोई स्थान नहीं है। इस मान्यता में न तो किसी देव विशेष के प्रति हठाग्रह है एवं न किसी गुरु विशेष या धर्म

विशेष के प्रति पक्षपातपूर्ण भाव। सत्य की कसौटी पर जो देव सुदेव सिद्ध होते हैं अथवा कि जो गुरु या धर्म 'सु' के विशेषण से विभूषित होते हैं, वे ही एक सम्यक्त्वी के लिये आराध्य हैं। इसी कसौटी पर कसकर देवस्थान पर वीतराग देव को मान्यता मिली है, क्योंकि वीतराग देवों की महान् आत्माओं ने सांसारिकता के बीज रूप राग एवं द्वेष को व्यतीत करके परम विशुद्ध स्वरूप ग्रहण कर लिया। चाहे वे वीतराग महावीर हुए हों या अन्य कोई देव सभी सुदेव हैं तथा उनका दिव्य स्वरूप ही श्रद्धा का विषय है। उन्होंने जो कुछ उपदेश आत्म विकास के सम्बन्ध में अपने स्वानुभव से दिया है, वही धर्म रूप में प्रतिष्ठित माना जाना चाहिये। इस प्रतिष्ठा से ही वह सुधर्म कहलाता है। ऐसे वीतराग देवों की आज्ञा में जो चलते हैं तथा ऐसे सुधर्म का जो प्रचार करते हैं, वे ही सुगुरु रूप में सम्मान पाते हैं। यहाँ कोई हठाग्रह, भेदभाव अथवा पक्षपात नहीं है कि किसी देव, गुरु या धर्म विशेष को ही माने। यह तो सम्यक्त्वधारी की सद्बुद्धि एवं परीक्षा–बुद्धि का विषय है कि वह सत्य को समझे तथा देव, गुरु एवं धर्म के 'सु' स्वरूप को अपनी श्रद्धा का केन्द्र बनावे।

सम्यक्त्व की इसे ही मैं बुनियाद समझता हूँ जिसके आधार पर सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा एवं सम्यक् आचरण से परिपूर्ण जीवन का निर्माण किया जा सकता है। यही वह ईट है जिस पर मोक्ष का महल खड़ा किया जा सकता है। नींव की ईट अगर मजबूती से जम गई है तो आगे के निर्माण के प्रति निश्चित बना जा सकता है। एक सम्यक्त्वधारी सदा सावधान रहता है कि वह अपने सत्पथ से भटके नहीं। यदि कभी किसी कारण से कुछ भटकाव आ भी जाता है तो वह अपने आत्म नियंत्रण के बल पर उस भटकाव को समझ जाता है और जल्दी से जल्दी उसे दूर कर देता है। फिर वैसा भटकाव न आ सके– इस हेतु से वह निरन्तर अपनी आत्मालोचना करता रहता है। इस प्रकार आत्म चिन्तन एवं आत्म दमन के उपायों से वह अपने सम्यक्त्व के विस्तार एवं विकास के लिये अथक पुरुषार्थ करता रहता है। मैं मानता हूं कि आत्मा को एक बार सम्यक्त्व का आलोक प्राप्त हो जाय–यह स्वयं एक बहुत बडी उपलब्धि होती है।

आत्म–नियंत्रण का धरातल

मैंने एक बार जब सम्यक्त्व का आलोक पा लिया तो उससे मिथ्यात्व का अंधकार मिटने लगा और मुझे एक ओर जीवादि नवतत्त्वों का ज्ञान मिल गया तो दूसरी ओर सुदेव सुगुरु तथा सुधर्म की सही पहिचान हो गई। इस

कारण मेरे सामने आत्म विकास का महान् क्षेत्र दृष्टिगोचर होने लगा। इस दशा में मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपनी श्रद्धा को सुदृढ़ बनाऊं तथा प्राप्त सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में अपने समग्र आचरण को सम्यक् बनाता चलूं।

इस प्रक्रिया की सफलता के लिये मैं अपने लिये आत्म–नियंत्रण का धरातल तैयार करना आवश्यक समझता हूँ। यह आत्म–नियंत्रण क्या है तथा कैसे बनेगा इसे मैं समझ लूं।

आत्म–नियंत्रण का अर्थ है अपने आपको काबू में रखना। मैं सोचता हूँ कि यह 'आप' कौन है और इसको काबू में कौन रखेगा ? तब मुझे मेरे 'मैं' की अनुभूति होती है और जिसको जिसकी यह अनुभूति होती है–दोनों मेरा 'मैं' ही होता है। इससे स्पष्ट होता है कि 'मैं' ही 'मैं' को नियंत्रण में रखेगा अर्थात् सम्यक्त्वधारी और सजग आत्मा ही अपने आप को नियंत्रण में रखेगी तथा यही आत्म–नियंत्रण का अनुभाव है।

अब यह स्थिति और समस्या मेरे सामने आती है कि मैं आत्म–नियंत्रण कैसे रखूं ? जैसे कोई सत्ता के किसी पद पर बैठा हुआ हो वह हर समय अपनी सत्ता का ध्यान रखता है कि उसके प्रत्येक कार्य में उसकी सत्ता झलकती हो तो उसके सभी अधीनस्थ उसकी सत्ता का मान और पालन करते हों। यह ध्यान वह एक पल के लिये भी नहीं भूलता है। यदि कोई अपनी बाहरी सत्ता के शासन के प्रति भी इतना जागरूक रह सकता है तो एक बार सम्यक्त्व का प्रकाश पाकर भला वह अपनी भीतरी सत्ता का उससे भी अधिक ध्यान रखना क्यों नहीं सीख जायगा ?

मैं जब अपनी भीतरी सत्ता का ध्यान करता हूं तो भीतरी शासन का नक्शा मेरे ज्ञान–चक्षुओं के समक्ष खिंच जाता है। 'मैं' शासक हूं और मेरा शासन है अपने आप के ऊपर तथा अपनी इन्द्रियों और अपने मन के ऊपर। यह शासन मुझे इस तरह चलाना है कि मेरा बाहरी जीवन भीतर में उपजे प्रकाश को पकड़े और बाहर के क्रिया–कलाप शुद्धता का स्वरूप ग्रहण करें। प्रतिक्षण मेरी सावधानी रहे–सबसे पहले मेरे अपने में लगने वाले विषय–कषाय के झोंके, राग–द्वेष के थपेड़े और प्रमाद के हिंडोले कहीं मुझे मोहाविष्ट बनाकर बेभान न करदे, क्योंकि मैं स्वयं बेभान हो गया तो मेरी नियंत्रण की डोर भी ढीली पड़ जायगी। फिर मन और इन्द्रियों के बहकने को कौन रोकेगा तथा वे बहकते रहे तो मेरा भान वापस लौटना कठिन हो जायगा।

इस कारण मैं आत्म–नियंत्रण को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहता हूं। मेरे 'मैं' को मैं नियंत्रण में रख लेता हूं तो फिर मेरा मन और मेरी इन्द्रियाँ

अनुशासन नहीं तोड सकेंगी। मेरे नियंत्रण से इनका नियंत्रण होगा तो वह संयुक्त नियंत्रण मेरे सम्पूर्ण आत्मा स्वरूप की सांसारिकता के विकारों की कालिमा से बराबर रक्षा करता रहेगा।

आत्मालोचना का क्रम

मैं सोचता हूं कि आत्म–नियंत्रण एक अंकुश का काम करेगा तो आत्मालोचना निर्मल जल का। एक हाथी को अंकुश से नियंत्रित किया जाता है। सामान्यतया यह नियंत्रण चलता है। किन्तु कभी ऐसा भी हो जाता है कि महावत के नियंत्रण के बावजूद मस्ती में वह धूल अपने शरीर पर उछाल कर उसे मैला बना देता है। तब महावत साफ पानी से उसके शरीर को धोकर साफ करता है। इसी प्रकार मैं अपने मन, वचन एवं कर्म पर अपना नियंत्रण स्थापित करता हूं किन्तु सांसारिक परिस्थितियाँ बड़ी जटिल होती हैं और कई बार मैं उनसे प्रभावित हो जाता हूं। और परिस्थितियों के दबाव से मैं कभी–कभी आत्म–नियंत्रण से फिसल जाता हूँ। ऐसे समय पर यदि मैं निष्क्रिय रहूं तो वह फिसलन और उससे मेरा पतन बढ़ता रह सकता है, किन्तु मैं अपनी सम्यक्त्वी सक्रियता कभी नहीं त्यागता। तब मैं आत्मालोचना की पद्धति अपनाता हूँ। वह यह कि दिन भर के अपने अच्छे–बुरे क्रियाकलापों का लेखा–जोखा मैं सायंकाल और रात भर का लेखाजोखा प्रातःकाल लेता हूं। और अवधि की दृष्टि से प्रति पक्ष और आगे प्रति संवत्सर भी व्यापक रूप से लेखा–जोखा लेता हूं। इसका परिणाम यह होता है कि मैं अपनाई गई तथा अपनाई जाने वाली वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को परीक्षा बुद्धि से जांचता–परखता हूँ कि उनमें कितना खरापन रहा और कितनी खोट रही ? फिर आगे के लिये संकल्प लेता हूँ कि जितना खरापन है उसे बढ़ाऊं तथा जितनी खोट है उसे घटाऊं और खत्म करूं।

आत्मालोचना का यह क्रम मैं नियमित रूप से चलाता हूं जिससे मेरी अपनी भीतरी झांकी मुझे दीखती रहती है। उस झांकी के सामने रहने से प्रभाव में होता यह है कि प्रायश्चित से पूर्व कृत पाप–कार्यों के सम्बन्ध में मेरा अन्तःकरण धुल कर स्वच्छ बनता है तो उसमें नित नवीन जागृति भी पैदा होती है कि किये हुए पाप कार्यों की पुनरावृत्ति न हो तथा जो अशुभता जीवन में है उसे भी शुभता में बदलते जावें। इस तरह आत्मालोचना निर्मल जल का काम करती है जिससे मन का मैल धुलता रहता है। इस क्रम का यह प्रभाव होता है कि धुलते–धुलते मैल की जमावट कम होती जाती है तो आत्मा के अनुरूप विकास के साथ दर्पणवत् प्रतिबिम्ब विशुद्ध होते जा रहे

आत्मस्वरूप में भी होने लग जाता है।

मैं आत्मालोचना के मनोवैज्ञानिक महत्त्व को बड़ा उपयोगी मानता हूँ। मैं जान–बूझकर एक अकार्य करता हूं अथवा अनजाने में भी मेरे से गंभीर भूल हो जाती है तब भी मैं इसे पसन्द नहीं करता कि कोई मेरी निन्दा तो दूर, सच्ची आलोचना भी करे। मैं उसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानकर संघर्षरत हो जाता हूं। किन्तु जब मैं अपनी मानसिकता को ही इस तरह मोड़ूं कि मैं ही अपनी प्रवृत्तियों तथा भूलों की स्वयं ही आलोचना करूं तथा अपने गुरुजनों के समक्ष उनकी निन्दा करके प्रायश्चित करना चाहूं तब मेरी प्रकृति में नम्रता का समावेश होगा और उस व्यक्ति के प्रति भी मैं सरलता धारण किये रहूंगा जिसके प्रति मैंने द्वेष–भाव उभारा होगा। इस प्रकार महसूस करने का मन का स्वभाव ही बदलता चला जायगा। मैं अपनी अकृति या भूल को वैसी ही मानकर उसका परिहार करने की तत्परता भी दिखाना चाहूंगा।

मैं अपनी क्रियाओं पर जब पीछे नजर डालूंगा और गुरु के समीप अपने दुष्कृत्यों की आलोचना–निन्दा करूंगा तो मुझे भी भीतर में वैसा ही हल्कापन महसूस होगा जैसा कि एक भारवाही को अपना भार उतार देने पर महसूस होता है। मेरे मन में आता है कि जैसे एक बालक बोलते हुए सरल भाव से अपना कार्य–अकार्य सब बता देता है, उसी प्रकार मैं भी आत्मार्थी बन कर माया और मान को छोड़ दूं तथा सरल भाव से अपने दोषों की आलोचना कर लूं। योग्य व्यक्ति के समक्ष की जाने वाली ऐसी आलोचना मुझे शास्त्र–श्रवण में भी कुशल बनायगी तो सच्ची आराधना का बल भी प्रदान करेगी। इसलिये पहले के दोषों की पहले तथा बाद के दोषों की बाद में आलोचना नियमित क्रम से करते रहना चाहिये। साधु भी यदि कोई अकृत्य करले और बिना आलोचना किये यदि वह काल धर्म को प्राप्त हो जाये तो वह उसकी आराधना नहीं होगी, फिर मेरे जैसी सामान्य आत्मा की आराधना के लिये तो अधिक पुष्टि की जरूरत पड़ेगी। एक बात अवश्य है कि यदि शुद्ध भावपूर्वक आलोचना करते हुए स्मरण शक्ति की दुर्बलता से अथवा किसी तरह की जल्दबाजी से किसी दोष की आलोचना भूल से रह जाय तो वह क्षम्य मानी जायगी क्योंकि आलोचना की शुद्ध भावना के साथ ही माया, मद और गारव को गालने से उसका आराधक पद बना रहता है। आत्मालोचना करने वाले की आठ प्रकार से गुण सम्पन्नता मानी गई है–जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन–सम्पन्न, चारित्र–सम्पन्न, क्षान्त–क्षमाशील रहने वाला तथा दान्त–इन्द्रियों का दमन करने वाला।

मेरी मान्यता है कि आत्मालोचना और माया का कभी गठजोड नही हो सकता है। यदि मै मायापूर्वक आत्मालोचना करता हू तो वह वास्तविकता नही होगी। आत्मालोचना मे माया का कोई स्थान नही है। यश कीर्ति की परवाह किये बिना आत्मालोचना सदा निष्कपट, सरल एवं शुद्ध भाव से ही होनी चाहिये। ऐसा भी मै नही सोचूं। मुझे यह भय रखना भी अनुपयुक्त होगा कि आत्मालोचना से मेरी कीर्ति और मेरा यश मिट जायगा। किन्तु जो मायापूर्वक आलोचना करता है अथवा आलोचना नही करता, वह हर समय सशंकित रहता है कि उसका दोष दूसरों पर जाहिर तो नही हो गया है। इस सशंक भय के साथ वह मन ही मन पश्चाताप की आग मे भी जलता रहता है।

प्रतिक्रमण के माध्यम से भी आत्मालोचना का कुछ रूप अपनाया जाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—पापो से पीछे हटना। आत्मा के दर्पण पर लगे धब्बो को आत्मा ही देखेगी और संकल्पपूर्वक उन्हे हटायगी—यह उस आत्मा का प्रतिक्रमण होगा। आत्मालोचना याने अपनी ही निन्दा, तो प्रतिक्रमण का अर्थ होगा इन निन्दित कार्यो से पीछे हटने का संकल्प अर्थात् उनकी पुनरावृत्ति नही करना। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से अपनी आत्मा को हटाकर फिर से सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे लगाना प्रतिक्रमण कहलाता है, शुभ योग से भटक कर अशुभ योग मे गई हुई आत्मा को फिर से शुभ योग में अवस्थित करने का नाम ही प्रतिक्रमण है। जो आत्मा, अपने ज्ञान, दर्शन आदि रूप स्थान से प्रमाद के कारण मिथ्यात्व आदि के स्थानो पर चली जाती है, प्रतिक्रमण करके फिर से मुडकर अपने स्थान पर आ जाती है।

मै आत्म विकास की प्रक्रिया मे प्रतिक्रमण के व्यापक महत्त्व पर विचार करु तो यह बडा उपयोगी होगा। प्रतिक्रमण के आठ भेद किये गये है— (1) प्रतिक्रमण—सीधा सा अर्थ है, उल्टे पैरो वापस मुडना। यह दो प्रकार का होता है—प्रशस्त एव अप्रशस्त। मिथ्यात्व आदि का प्रतिक्रमण प्रशस्त तो सम्यक्त्व आदि का प्रतिक्रमण अप्रशस्त कहलाता है। इसका भाव रूप यह है कि वीतराग देव रूपी राजा ने संयम रूपी महल की रक्षा करने की आज्ञा दी। उस संयम की किसी साधक ने विराधना की और ढिठाई भी की तो रागद्वेष रूपी रक्षको ने उसे मार डाला याने कि वह जन्म—मरण के चक्र मे फंस गया। कोई साधक प्रमादवश असंयम अवस्था को प्राप्त हो जाय, किन्तु उस अवस्था से पुनः संयम मे लौट आवे और असंयम मे फिर से प्रवृत्ति न करने की प्रतिज्ञा

कर ले तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। (2) प्रतिचारणा–संयम के सभी अंगों में भली प्रकार चलना और सावधानतापूर्वक संयम को निर्दोष पालना। इसका भाव रूप यह है कि आचार्य रूपी सेठ ने संयम रूपी महल की साल–सम्हाल करने की आज्ञा दी। एक साधु ने प्रमाद और शरीर के सुख में पड़कर उसकी बेपरवाही की। वह संसार में दुःख पाने लगा। दूसरे साधु ने संयम रूपी महल की अच्छी तरह साल–सम्हाल की–रोज उसे बार–बार देखता रहता और जरा–सी भी तरेड़ वगेरा दीखती तो तुरन्त मरम्मत कर लेता। वह मोक्ष रूपी सुख का भागी हो गया। (3) परिहरणा–सब प्रकार से छोड़ना अर्थात् वीतराग रूपी कुलपुत्र मनुष्य भव रूपी गोकुल से निर्दोष चारित्र रूपी दूध लाने की आज्ञा देते हैं। उस के दो मार्ग हैं–जिनकल्प और स्थविर कल्प। जिनकल्प का मार्ग सीधा पर अति कठिन होता है जिस पर उत्तम संहनन वाले महापुरुष ही चल सकते हैं। स्थविरकल्प का मार्ग उपसर्ग, अपवाद आदि के कारण लम्बा होता है। जो जिनकल्प के मार्ग का सामर्थ्य नहीं रखता फिर भी उस पर चलता है, वह संयम रूपी दूध के घड़े को रास्ते में ही फोड़ देता है–चारित्र्यपतित हो जाता है। लेकिन जो समझदारी से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार संयम की रक्षा करते हुए धीरे–धीरे चलता है और स्थविरकल्प के मार्ग को अपनाता है, वह अन्त में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। (4) वारणा–इसका अर्थ होता है निषेध। जिसका भाव रूप है कि वीतराग रूपी राजा विषय भोगों को विष मिले पानी और अन्न को समान बताकर लोगों को उनसे दूर रहने की शिक्षा देते हैं। जो उनकी शिक्षा नहीं मानते, वे भवचक्र में भटकते रहते हैं किन्तु जो उस निषेध को मान लेते हैं, वे भव चक्र से छूट जाते हैं। (5) निवृत्ति–किसी काम से हट जाना। इसका भाव रूप है कि संयम भी एक प्रकार का युद्ध है। यदि उससे कोई भाग खड़ा होता है तो उसे लोगों की अवहेलना मिलती है किन्तु वह युद्ध में लौट आता है और आलोचना व प्रतिक्रमण करके गुरु की आज्ञानुसार चलने लगता है तो वह संयम में स्थित हो जाता है। (6) निन्दा–आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ कर्मों को बुरा समझना निन्दा है। आत्म–निन्दा द्वारा एक साधक प्रतिदिन अपने से कहे–हे आत्मन् नरक तिर्यंच आदि गतियों में घूमते हुए अब तूने मनुष्य भव प्राप्त किया है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी तुझे मिला है। इन्हीं के कारण तू माननीय भी हुआ है। अब घमंड मत करो कि मैं बहुश्रुत या उत्तम चारित्र वाला हूं। (7) गर्हा–गुरु की साक्षी से अपने किये हुए पापों की निन्दा करना गर्हा है। अपने दुष्चरित्र की निन्दा करने से पापकर्म ढीले पड़ जाते हैं और पाप हल्का हो जाता है।

पाप के हल्के होने से साधना की सुदृढ़ता बढ़ जाती है। (8) शुद्धि—तपस्या आदि से पाप कर्मों को धो डालना शुद्धि है। साधक को भी काल का उल्लंघन किये बिना आचार्य के पास अपने पापों की आलोचना कर लेनी चाहिये। यही भाव शुद्धि है। आत्मनिन्दा रूपी औषधि से अतिचार रूपी विष दूर हो जाता है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रतिक्रमण रूप आत्मालोचना का क्रम निरन्तर नियमित रूप से चलता रहे तो मेरी आत्मा पाप—कार्यों में उलझ—उलझ कर भी सुलझती जायगी और शनैः शनैः पाप के बोझे को हल्का बनाती जायगी।

आत्म समीक्षण से स्वरूप दर्शन

नियमित रूप से निरन्तर की जाने वाली आत्मालोचना से मुझे यह सुफल प्राप्त होगा कि मैं प्रतिक्षण अपने आत्म—स्वरूप के प्रति सावधान हो जाऊंगा। इससे मेरी आत्म—समीक्षण की प्रवृत्ति बन जायगी। मैं प्रतिक्षण सावधानी पूर्वक जब अपनी आत्मा की समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को देखता रहूंगा, जांचता एवं परखता रहूंगा तो प्रतिक्षण अपने आत्मस्वरूप को देखता भी रहूंगा और यह देखना ही मेरा आत्म—समीक्षण का रूप ले लेगा। सम्यक् प्रकार से अर्थात् समतापूर्वक देखना समीक्षण कहलाता है और यह प्रक्रिया जब अपनी ही आत्मा के साथ चलेगी तब वह आत्म—समीक्षण की प्रक्रिया होगी।

मैं आत्म—समीक्षण की अपनी इस प्रक्रिया में दखने के साथ जो 'सम' शब्द लगा हुआ है उसको विशेष महत्त्व देना चाहता हूं। मेरा देखना समतापूर्वक होगा—पक्षपातपूर्वक अथवा हठाग्रहपूर्वक नहीं। अपनी ही वृत्तियो को समभावपूर्वक देखना यद्यपि बड़ा कठिन कार्य होगा, फिर भी अभ्यासपूर्वक जब मैं ऐसा करने लगूंगा तब अपनी चित्तवृत्तियो को सम्यक् रीति से देखना मेरी साधना का एक अनिवार्य अंग बन जायगा। जैसे किसी वस्त्र को धोने से पहले यह जान लेना आवश्यक होता है कि उस पर कितने और किस प्रकार के दाग लगे हुए हैं और उनको धोने के लिये किस साधन से किस प्रकार का प्रयास करना पड़ेगा, उसी प्रकार आत्म—स्वरूप की परिशुद्धि की दृष्टि से यह आत्मसमीक्षण अनिवार्य रूप से मुझे करना ही होगा। इसके बिना मेरा इसे शुद्ध बनाने का प्रयास अधूरा ही रहेगा तथा अविचारणा के साथ उसके विफल हो जाने की भी पूरी आशंका बनी रहेगी।

मैं आत्म–समीक्षण के माध्यम से अपनी आत्म–वृत्तियों का सम्यक् एवं सूक्ष्म अवलोकन करता रहूंगा और यह जानते रहने की चेष्टा करूंगा कि मेरे मन पर किस प्रकार की अप्रशस्त वृत्तियों ने आक्रमण कर रखा है ? मन के स्वच्छ पटल पर कितने–कितने और कैसे–कैसे चिकने दाग लगे हुए हैं ? वह कलुषितता कितनी गहरी है तथा उसे धोने के लिये मुझे साधना किस रूप में ढालनी होगी ? इन सब प्रश्नों पर मुझे गहरा चिन्तन करना होगा और और आत्मदमन के उपायों से मन की चादर को धोनी होगी।

आत्म–समीक्षण इस प्रकार मेरे आत्म–विकास के लिये एक अमूल्य साधन सिद्ध होगा क्योंकि समीक्षण से स्वरूप दर्शन की निरन्तरता मेरे सामने बनी रहेगी। किन्तु आत्म–समीक्षण की उपयोगिता इस स्तर तक ही हो–ऐसी बात नहीं है। आत्म–समीक्षण की उपयोगिता मेरी आत्म–विकास की महायात्रा में अन्त तक बनी रहेगी। स्वरूप दर्शन की अत्युच्च पराकाष्ठा तक यह प्रक्रिया मुझे असीमता में रूपान्तरित करती रहेगी। अभी प्रारंभ में तो यह मेरे लिये मात्र निर्देशक का ही काम करेगी किन्तु बाद में तो समीक्षण वृत्ति मेरे मन–वचन एवं कर्म की समस्त योग क्रिया का केन्द्र ही बन जायगी।

मैं मानता हूं कि आत्म–समीक्षण कोई सामान्य प्रक्रिया नहीं होती है। यह मेरी अन्तर्प्रज्ञा के चक्षुओं को उघाड़ देगी। ज्ञान–चक्षुओं से आन्तरिकता के निरीक्षण–परीक्षण की कोई सीमा नहीं होती है जबकि बाहर के चक्षुओं की अपनी दृष्टि–सीमा होती है। स्वरूप दर्शन की उत्कृष्टता के साथ निरीक्षण–परीक्षण की यह सीमा निरन्तर फैलती ही जाती है और ज्ञान चक्षुओं का प्रकाश बढ़ता ही जाता है। यह प्रकाश ही तब मेरा आत्म–प्रकाश बन जायगा। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मेरी यह आत्म–समीक्षण की प्रक्रिया समत्वपूर्वक ही प्रारंभ होनी चाहिये तथा समत्वपूर्वक ही चलती भी रहनी चाहिये। सम्यक्त्व और समताभाव इस प्रक्रिया के आधारगत बिन्दु होने चाहिये। जैसे कि किसी मधुर खाद्य पदार्थ की तरफ मेरे मन की अत्यधिक आसक्ति बढ़ी तो मैं उस आसक्ति से दूर हटने के लिये उस खाद्य पदार्थ का इच्छापूर्वक त्याग ही कर दूंगा। इसके साथ ही अपने मन को ऐसा कठोर निर्देश भी दूंगा कि वह फिर से ऐसे आकर्षण के प्रति आसक्त और लिप्त न हो। यह निश्चित है कि मेरे ऐसे निर्देशों को दीर्घ काल के अभ्यास के बाद ही सफलता प्राप्त हो सकेगी। समय अवश्य लगेगा किन्तु इस अभ्यास से उन निर्देशों की प्रामाविकता भी स्थायी स्वरूप ग्रहण करती जायगी।

मैं मेरे मन को ऐसे कठोर निर्देश देते समय इस बात का ध्यान रखूंगा कि विवशतावश अथवा प्रमादवश होने वाली भूलों को मैं उसी क्रम से तथा उतनी ही सक्रिय सशक्तता से परिमार्जित करने का कार्य करूंगा जिस क्रम से वे उत्पन्न हुई थी। इस पद्धति को अपनाने से मेरा आत्म–समीक्षण एक वैज्ञानिक रूप ले लेगा। यह सही है कि सभी भूलों का समीक्षण, निरीक्षण अथवा परिमार्जन एक ही साथ होना संभव नहीं होगा, किन्तू स्थूल प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करते हुए मेरा नियंत्रण तदनन्तर सूक्ष्म वृत्तियों के परिष्कार तक भी पहुंचता हुआ चला जायगा।

आत्म–समीक्षण से मेरी आत्म–चिन्तन तथा आत्मदमन की क्रिया बलवती बनेगी और जब तक मैं इसमें साधन रूप से संलग्न रहूंगा तब तक मेरा अन्तःकरण उत्साह और उमंग से परिपूरित रहेगा और भीतर की जिज्ञासा जागती रहेगी कि मैं अपनी साधना के आगामी चरणों को सुनिश्चित करता रहूं। तब मेरी साधना का क्रमिक विकास होता चला जायगा। समीक्षण पूर्वक आत्म–चिन्तन एवं आत्म–संशोधन ही उसका आधार बनेगा।

मैं प्रति रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में स्वयं आत्मा का निरीक्षण करूंगा और विचार करूंगा कि मैंने कौनसे अपने कर्त्तव्य पूरे किये हैं तथा कौनसे कर्त्तव्य पूरे करना शेष है और किन–किन शक्य अनुष्ठानों का मैं आचरण नहीं कर रहा हूं ? मैं चिन्तन करूंगा कि दूसरे लोग मुझ में क्या दोष देख रहे हैं और मुझे अपने–आपमें क्या–क्या दोष दिखाई दे रहे हैं। इन दोषों के बारे में मैं अपने–आपसे ही प्रश्न करूंगा कि क्या मैं इन दोषों को नहीं छोड़ रहा हूं ? तब मैं संकल्प लूंगा कि सम्यक् रीति से अपने दोषों को देखते हुए भविष्य में मैं ऐसा कोई दोषपूर्ण कार्य नहीं करूंगा जिससे कि मेरी साधना में बाधा पहुंचे। मैं जब भी अपनी आत्मा को मन, वचन एवं काया सम्बन्धी दुष्ट व्यापारों में लगी हुई रखूंगा, उसी समय उसे शास्त्रोक्त विधि से दुष्ट व्यापार से हटाकर संयम व्यापार में लगा दूंगा। जैसे आकीर्णक जाति का घोड़ा लगाम के नियंत्रण में रहकर सही रास्ते पर चलता जाता है, उसी प्रकार मैं अपनी आत्मा के विधिपूर्वक एवं नियंत्रणपूर्वक संयम के राजपथ पर चलता रहूंगा। मैं जानता हूँ कि जो आत्मा पवित्र भावनाओं से शुद्ध हो जाती है, वह जल पर चलने वाली सुघड़ नौका के समान बन जाती है। वैसी आत्मा ही सुघड़ नौका की तरह संसार रूपी महासागर के उस पार पहुँच कर अपने को सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त कर लेती है।

आत्म–चिन्तन की पावन धारा में प्रवाहित होते हुए मुझे अनुभूति होती है कि आत्मा को वश में करना अति कठिन कार्य है, फिर भी उसका संशोधन करते रहना चाहिये क्योंकि जो अपनी आत्मा को विषयों की दृष्टि से वश में कर लेता है, वह इहलोक और परलोक दोनों जगह सुखी बनता है। दूसरे लोग वध, बन्धन आदि साधनों से मेरा दमन करें–इसकी अपेक्षा यही अच्छा है कि मैं ही संयम और तप का आचरण कर अपने आप ही अपना दमन करूं। यह दमन अपनी आत्मा को विषयों की ओर जाने से रोकने के रूप में होगा। समस्त इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों की ओर जाने से रोककर मैं पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करूंगा क्योंकि पापों से अरक्षित आत्मा ही संसार–परिभ्रमण करती है और सुरक्षित आत्मा संसार के सभी दुःखों से मुक्त हो जाती है। मैं सोचता हूं कि श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मैं मनोज्ञ शब्दों में राग नहीं करूंगा और अमनोज्ञ शब्दों से द्वेष भी नहीं करूंगा। इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियों के निग्रह से मैं राग–द्वेष के कारणक कर्मो का बंध नहीं करूंगा और पुराने बांधे हुए कर्मो की निर्जरा भी करूंगा। जब–जब भी मुझे मेरी इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों की तरफ दौड़ाकर मुझे पीड़ित बनायगी, तब–तब मैं नीरस भोजन करने लगूंगा, अल्प भोजन करूंगा, खड़ा रह कर कायोत्सर्ग करूंगा और आवश्यकता समझूंगा तो आहार का कतई त्याग कर दूंगा किन्तु काम भोगों की ओर मन को नहीं जाने दूंगा तथा अपनी साधना को विकृत नहीं होने दूंगा। मेरा जब ऐसा निश्चय बन जायगा कि चाहे शरीर छूट जाय परन्तु वीतराग देव की आज्ञा का उल्लंघन न करूं, तब मुझे मेरी इन्द्रियाँ संयम–पथ से विचलित नहीं कर सकेंगी। मैं समझता हूँ कि मेरा यह मन रूपी घोड़ा बड़ा उद्दंड, भयंकर और दुष्ट है तथा उन्मार्ग की ओर दौडता रहता है, मैं यह भी समझता हूं कि मैं इसे धर्म शिक्षा के द्वारा ही अपने वश में करके सम्यक् मार्ग पर दौड़ा सकता हूं। इन्द्रियों और मन के सारे विषय रागी–मनुष्य के लिये दुःखदायी होते हैं किन्तु वीतराग पुरुष को ये विषय कभी तनिक–सा भी दुःख नहीं दे सकते हैं–ऐसा सोचकर मैं राग और द्वेष को जीतने तथा मोक्ष की ओर आगे बढाने वाली कठिन साधना में निरत बना रहूंगा। यही मेरा आत्म–समीक्षण से आत्मचिन्तन तथा आत्म–दमन का क्रम होगा जिससे मैं भलीभांति अपने स्वरूप–दर्शन करूंगा तथा निरन्तन करता रहूंगा।

परिमार्जन, संशोधन व संशुद्धि

आत्म–स्वरूप के निरन्तर निरीक्षण–परीक्षण की प्रक्रिया से मैं जब अपने दोषों को पहिचान लूंगा, उनके कारणों को जान लूंगा तथा उनके

घनत्व को भी समझ लूंगा तब उन्हें परिमार्जित कर लेने की मेरी अभिलाषा प्रबल बन जायगी, क्योंकि मैं यह भी सुनिश्चित कर सकूंगा कि किस प्रकार की साधना के बल पर उन दोषों का सफलतापूर्वक परिमार्जन हो सकेगा ?

मेरी प्रक्रिया तब त्रिरूपवती हो जायगी–परिमार्जन, संशोधन एवं संशुद्धि की प्रक्रिया। परिमार्जन याने मैल को मिटाना, संशोधन याने स्वरूप को सुधारना तथा संशुद्धि याने मैल को पूरी तरह धोकर स्वरूप को शुद्ध बना लेना। जैसे किसी धब्बों वाले कपड़े को उजला बनाना हो तो पहले उसके चिकने धब्बों पर किसी ऐसे रसायन का प्रयोग करना पडेगा जिसके असर से उन धब्बों का मैल गलकर मिटने लगे। फिर पूरे कपडे पर साबुन आदि का प्रयोग करना पड़ेगा जिससे कि उसका समूचा स्वरूप सुधरने लगे। उसके बाद साफ पानी से धोकर उसे पूरी तरह उजला बना सकेंगे। यही क्रिया मैली आत्मा को उजली बनाने के लिये भी करनी होगी। यदि निष्ठापूर्वक मैं इस त्रिरूपवती क्रिया पर आचरण करूं तो कोई कारण नहीं कि मैं अपने आत्म–स्वरूप को परम विशुद्ध न बना सकूं।

मैं मानता हूं कि परिमार्जन, संशोधन एवं संशुद्धि की प्रक्रिया निरंतर क्रियाशील प्रक्रिया बन जाती है क्योंकि मेरा 'मैं' एक पल के लिये भी निष्क्रिय नहीं होता है। मैं निरन्तर कोई न कोई क्रिया करता रहता हूं और उस क्रिया से सम्बन्धित कर्म बंध मेरे होता रहता है। अशुभ क्रिया होगी तो अशुभ कर्मों का बंध होगा और उसके कारण मेरे आत्म–स्वरूप पर मैल की एक और परत चढेगी। उस मैल को मांजने, सुधारने व धोने की प्रक्रिया भी तब मैं साथ–साथ में चलाऊंगा। किन्तु शुभ क्रिया कर्मो का बंध होगा तब भी मुझे उनके शुभ फल का उपभोग करना होगा। शुभ फल का उपभोग करते समय सच पूछें तो मेरी सावधानी और अधिक बढ़ जानी चाहिये। प्रतिकूलताएँ सामने आती हैं और दुःखदायी होती हैं–इस कारण उनसे सफल संघर्ष करना फिर भी सरल होता है। परन्तु अनुकूलताओं के सुख के समय उनमें रहे हुए आकर्षण को समझना, अपने क्रियाकलापों को संयमित्त रखना और सबसे ऊपर सम्यक्त्व एवं समभाव को प्रखर बनाये रखना अपेक्षाकृत बहुत कठिन होता है। यदि उस समय में मुग्धता, प्रलुब्धता तथा मोहाविष्टता का भाव समा जाय तो वे अनुकूलताएँ आत्मा के किये कराये परिश्रम को तो नष्ट कर ही देती है अपितु असंज्ञा के ऐसे दलदल में पुनः फंसा देती है और आत्मस्वरूप को मिथ्यात्व के काले रंग में इस तरह रंग देती है कि उस दलदल से बाहर आना और काले रंग को मिटाना एक भगीरथ कार्य हो जाता है।

अतः मैं अनुकूलताओं की उपस्थिति में अपने–आपको अधिक जागरूक बना लेता हूं और वह भी दो प्रकार से। एक तो उस प्राप्त अनुकूल सुख सुविधा में अपने को कतई असंयमित नहीं बनाऊं तो दूसरे, उन अनुकूलताओं को अपने आत्म–विकास की सहयोगी सामग्री बनालूं। समझिये कि यह मनुष्य जीवन जो मुझे मिला है। वह एक सुखदायी अनुकूलता है क्योंकि इसके कारण मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन कैसा भी अनुभव लेने में सक्षम है। एक प्रकार तो यह हो सकता है कि मैं काम भोगों की तरफ आकृष्ट हो जाऊं तथा इन्द्रियों व मन के विषयों में रम जाऊं। जिनेश्वर के सिद्धान्तों के प्रतिकूल श्रद्धा वाला बन जाऊंगा। यह दशा मिथ्यात्व की हो जाती है। दूसरा प्रकार होगा कि मैं प्राप्त इस मनुष्य जीवन का आत्म–साधना के हित में पूर्ण सदुपयोग करूं। यह मेरी आत्मा की जागृत अवस्था होगी तथा ऐसे समय में सम्यक्त्व का मेरे भीतर सद्भाव होगा।

अतः परिमार्जन, संशोधन एवं संशुद्धि की प्रक्रिया के प्रति मेरी जितनी अधिक सावधानी होगी, उतना ही मैं प्रतिकूलताओं में तथा अनुकूलताओं में भी अपने–आपको संयम में स्थिर रख सकूंगा। मिथ्यात्व के अंधेरे को ऐसी मनःस्थिति के साथ मैं दूर हटाते रहने में और अपनी आन्तरिकता में सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाते रहने में भी सफल हो सकूंगा।

मिथ्यात्व–सम्यक्त्व संघर्ष

मैं जब आत्म–नियंत्रण, आत्मालोचना, आत्म–समीक्षण, आत्म–चिन्तन, आत्म–दमन तथा परिमार्जन–संशोधन एवं संशुद्धि की प्रक्रिया में से प्रतिदिन गुजरता रहूंगा, तब मेरे भीतर मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व का तुमुल संघर्ष आरंभ हो जायगा। एक ओर विषय, कषाय, काम भोग, मोह, प्रमाद आदि के रूप में विकृत वृत्तियाँ मेरी इन्द्रियों को, मेरे मन को तथा मेरे 'मैं' को भी मिथ्यात्व की अंधकारपूर्ण मोहदशा की ओर खींचेगी तो दूसरी ओर मेरी जितनी साधी हुई, जागृति होगी उसके अनुसार मेरा 'मैं' अपने आपको स्थिर रखेगा एवं अपनी इन्द्रियों तथा मन को विदशा में जाने से रोकेगा। जब तक मैं विकारों का पूरी तरह से विनाश नहीं कर लूंगा तब तक अपने भीतर में यह कठिन संघर्ष चलता ही रहेगा। कभी दो पग इधर तो कभी दो पग उधर का दृश्य पैदा होता रहेगा। कभी पांव जमेगा तो कभी उखड़ भी जायगा। कभी पांव जमाकर सम्यक्त्व की दिशा में कदम बढ़ेंगे तो कभी पांव फिसल कर मिथ्यात्व की ओर झुक जायेंगे। कभी–कभी तो सम्यक्त्व की दिशा में बहुत

आगे तक बढ़ जाने याने कि व्रती आदि हो जाने के बाद भी ऐसी फिसलन आ सकती है कि मैं लुढ़कता हुआ फिर से मिथ्यात्व के गढ्ढे में गिर पड़ूं। यह भीतर का द्वन्द्व बहुविध बहुरूपी बनकर चलता रहता है, किन्तु यह द्वन्द्व अवश्य ही इस तथ्य का प्रमाण होता है कि मेरे अन्तःकरण में आत्म–विकास की जागृति का सूत्रपात हो चुका है।

मिथ्यात्व–सम्यक्त्व संघर्ष की वेला में मेरा 'मैं' द्विरूपी हो जाता है अथवा यों कहें कि वह दो भागों में बंट जाता है। एक 'मैं' दूसरे से कहता है–ऐ मूर्ख, क्या संयम और साधना की बात करता है ? देख, यह मनुष्य तन मिला है–सशक्त इन्द्रियाँ और मस्त मन मिला है। इनको पूरी तरह काम में ले और संसार के काम भोगों का आनन्द उठा। ऐसा तन और जीवन बार–बार नहीं मिलेगा। जवानी दो दिन में बीत जायगी और फिर दूसरे लोगों को ये आनन्द उठाते हुए देखकर पछतायगा। तेरे तन की आज जवानी है, सुगठित स्वास्थ्य है, धन और सारी सुख सामग्री सामने है देखता क्या है–मस्त बन और मौज उड़ा। जिनेश्वरों के सिद्धान्तों का आज कोई औचित्य नहीं है। दूसरा 'मैं' इसे सुनता है और एकदम कोई उत्तर नहीं दे पाता है, बल्कि विचार में पड़ जाता है। तब पहला 'मैं' अधिक जोश से कहने लगता है–अरे, सोच में क्या पड़ गया है ? यह आयु सोच करने की नहीं है–बैठने और चलने की भी नहीं है। यह आयु तो हजार–हजार उमंगों के साथ उड़ने की है। सुन, कितना कर्णप्रिय संगीत आ रहा है ? सुनकर तबियत बाग–बाग हो उठती है। देख, कितनी रूपवती कन्याएँ तुझे रिझाने के लिये सामने खड़ी हैं ? क्या इनकी अनुपम सुन्दरता तुझे मुग्ध नहीं बना रही है ? सूंघ, कितनी मस्त बना देने वाली इत्रों और सेंटों की सुगन्ध है ? सूंघकर ही तन–मन में मस्ती छा जाती है। तेरे सामने कितने प्रकार के सुमधुर तथा सुस्वादु व्यंजन रखे हुए हैं, एक कौर चखकर तो देख–फिर कहीं उंगलियाँ ही न काट खावे ? और इस शयनगृह में प्रवेश तो कर–इसकी हर सजावट का स्पर्शसुख तो महसूस कर, तेरा रोम–रोम सुख के हिंडोल में झूलने लगेगा। कुछ भी सोच मत–रंग, तरंग और उमंग के इस सरोवर में आंखें बन्द करके कूद जा–सुखों का पार नहीं है। इसका 'मैं और अधिक चिन्ताग्रस्त हो गया– तब तक वह चिन्तनमग्न नहीं हो पाया था। वह किंकर्त्तव्यमूढ़ता में पड़ा हुआ था। यह देखकर तो पहले 'मैं का हौंसला बहुत ज्यादा बढ़ गया। उसने अपनी दासियों और दास को आदेश दिया कि वे इस दूसरे 'मैं को पकड़ कर मेरे पास ले आवें, ताकि हम दोनों आलिंगनबद्ध होकर एक हो जावें और संसार के भोग–परिभोग मस्त होकर भोगें।

तब दूसरा 'मैं' कुछ जागा क्योंकि उसे अपने स्थान से डिगाये जाने का खतरा पैदा हो गया था। जागा तो उसकी चिन्तन-धारा भी सक्रिय हुई। अपने भीतर ही उसने विचार शुरू किया पहले कि क्या उस 'मैं' के कहने में कोई सच्चाई है ? क्या मनुष्य तन संसार के काम भोग भोगने के लिये ही मिला है अथवा चार गति चौरासी लाख योनियों की यह दुर्लभ प्राप्ति, धर्म का साधन बनने के लिये बड़े पुण्योदय से मिली है ? यह पुकारने वाला 'मैं' क्या अलग है और क्या 'मैं' अलग हूँ ? यदि हम दोनों एक हैं तो वह मेरे से बहक कर अलग क्यों रह गया है ? क्या मेरा यह कर्त्तव्य नहीं है कि पहले तो मैं ही स्थिर बना रहूं और फिर उस 'मैं' को भी अपने में मिला लूं ? हम दोनों एक ही तो हैं-वह बहका हुआ भाग और मैं सधा हुआ भाग। ज्यों-ज्यों ये प्रश्न दूसरे 'मैं' को मथने लगे, उसका चिन्तन पुष्ट होता गया। तब उसने अपनी चुप्पी तोड़ी। वह स्नेह भाव से मधुर स्वर में बोला-भाई, तुम मुझे पुकार रहे हो-यह दोहरी भूल कर रहे हो। एक तो तुम खुद पदार्थ-मोह और काम भोगों में पागल बन गये हो तो मुझे भी पतित बनने का आह्वान कर रहे हो। तुम सोचो कि क्या तुम सही जगह पर खड़े हो ? क्या तुम्हें अपनी जगह से कुछ भी दिखाई दे रहा है ? जब घटाटोप अंधकार में खड़े हो तो भला तुम्हें कुछ भी दिखाई थोड़े ही दे रहा होगा ? देखते नहीं, मैं प्रकाश में खड़ा हूं-मेरी सम्यक्त्व की पवित्र जगह है और तुम मिथ्यात्व के अंधेरे में अपने आपसे विस्मृत हो। यों मानो कि तुम अंधे हो और मैं दृष्टिवान्। इसलिये अच्छा होगा कि तुम ही मेरे पास चले आओ। तुम को और कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा होगा किन्तु मैं अवश्य दिखाई दे रहा होऊंगा क्योंकि मैं सम्यक्त्व के प्रकाश से आवृत्त हूँ। नजर उठाओ मेरी तरफ और चलना शुरू कर दो। उस जिनवाणी से विपरीत होने से अन्धकार में हो और मैं जिनवाणी के अनुकूल श्रद्धा आदि वाला होने से प्रकाश में हूँ।

अब पहले 'मैं' के चुप हो जाने की बारी आ गई थी। वह सोच में पड़ गया कि क्या वह सही है या दूसरा 'मैं' सही कह रहा है ? उसने महसूस किया कि वह अंधेरे में खड़ा है। हकीकत में उसकी कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है, लेकिन वह इस दूसरे 'मैं' को देख पा रहा है-ऐसा क्यों है ? क्या प्रकाश उसके पास है और वह सिर्फ अंधेरा भोग रहा है ? उसने महसूस किया कि उसके पांव लड़खड़ाने लगे हैं और उसका सारा शरीर कांपने लगा है। वह लज्जा के मारे जमीन में गड़ने लगा लेकिन यह सोचकर कुछ राहत पाने लगा कि अंधेरे के कारण उसकी लज्जा दूसरे 'मैं' से छिपी हुई है।

उसका मुंह खुल नहीं पाया और वह चुपचाप ही खड़ा रहा।

तब दूसरे 'मैं' ने उत्साहित होकर कहा—इसमें लज्जा की कोई बात नहीं है, यदि तुम अंधकारपूर्ण मिथ्यात्व को पहिचान लो। देखो, मेरी आवाज सुनो और जागृति की अंगड़ाई लो। तुम अपने चेतन स्वरूप को भूल गये हो और जड़ तत्त्व को अपना मान बैठे हो, इसी कारण संसार के झूठे सुखों की खोखली पैरवी कर रहे हो। तुम नहीं देख रहे हो कि पदार्थ—मोह से जड़ग्रस्त होकर पापों के पंक में गहराई तक डूब जाने की तुम तैयारी कर रहे हो। सुनो, मैं तुम्हें तुम्हारी विकृति का भान कराता हूँ जिससे तुम अपने निज के सुख तथा जड़ पदार्थो के सुख में भेद कर सको और पापों के क्षेत्र से बाहर निकल कर बहुमुखी शुभता से अपने स्वरूप को उज्ज्वल बना सको।

पहला 'मैं' स्तब्ध था और था हतप्रभ। वह बोला कुछ नहीं, मगर उसने आंखों ही आंखों संकेत दिया कि वह पापों को त्याग कर मिथ्यात्व के अंधेरे से वाकई बाहर निकल जाना चाहता है और सम्यक्त्व का प्रकाश आत्मसात् कर लेने को उत्सुक है। दूसरे 'मैं' ने तब घोर गंभीर वाणी में उद्बोधन दिया—मेरे भाई, ये पापपूर्ण क्रियाएँ पाप—कर्मो का बंध कराती हैं और फल, बंध व उदय के चक्र में पाप से पाप बढ़ता जाता है। इस कारण पापों के क्षेत्र को छोड़ो, अठारह पापों से क्रमशः कठिन संघर्ष करो और अपनें मूल गुणों को अपनाकर अपना वास्तविक विकास साधो।

दूसरे 'मैं' का उदबोधन प्रेरणा के प्रवाह में बहने लगा— अपने झूठे सांसारिक सुखों के लोभ में अथवा उनकी प्राप्ति या रखवाली में जब भी तुम्हारी वृत्ति हिंसा की तरफ आगे बढ़े तो तुम अपने आपको रोको, प्रमादवश किसी भी प्राणी के प्राणों को कष्टित बनाने के लिये आगे मत बढ़ो और हिंसा का सामना अपनी अहिंसा वृत्ति से करो। अहिंसा का अस्त्र तब हिंसा को दूर भगा देगा और तुम अन्य प्राणियों के प्रति करुणा, सहानुभूति एवं सहयोगिता से भर उठोगे। जब झूठ किसी भी स्वार्थ या कारण से तुम्हारे मन में उतरने लगे और जीवन पर चढ़ने लगे तो उसको दूर धक्का दे दो। उस समय सत्य का स्मरण करो और सत्य को अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में रमा लो। मृषावाद दूर भाग जायगा। जब तुम अपनी अनन्त इच्छाओं के कुप्रभाव से दूसरों की प्राप्तियों को चुराना या छीनना चाहो तो अचौर्य की भावना से अभिभूत बन जाओ ओर विचारों कि मुझे किसी भी दूसरे प्राणी को गुलाम नहीं बनाना है, किसी के भव्य हितों को आघात नहीं पहुंचाना है बल्कि दूसरों की पीड़ाओं को दूर करने के लिये मुझे कार्यरत होना है। तब तुम शोषण या

अकार्य नहीं करोगे। जब तुम्हारे सामने सुन्दर कामातुर रमणियां आवे और काम भोगों का न्यौता देने लगे तब तुम फिसलो मत, ब्रह्मचर्य का ध्यान करो और अपने को कुशील सेवन से बचालो। सब रमणियाँ तुम्हें अपनी माता और बहिनों के समान दिखाई देगी। जब तुम्हें परिग्रह की मूर्छा सताने लगे और सोने-चांदी या सत्ता-सम्पत्ति की विपुलता ललचाने लगे तो तुम मूर्छा को त्याग दो, अपनी आवश्यकताओं की न्यूनतम मर्यादाएं बांध लो और परिग्रह को मिट्टी के ढेले की तरह मान लो, तब मूर्छा और मोह तुम्हारा साथ छोड़ देंगे, तुम निस्पृह बन जाओगे।

दूसरा 'मैं' कहता जा रहा था और पहला 'मैं' भावाभिभूत बना उस प्रबोधन को तन्मयतापूर्वक सुन रहा था-जब तुम्हें क्रोध आवे, शान्त हो जाओ और उसे बाहर प्रकट मत होने दो, क्षमा के शीतल जल से क्रोध की अग्नि को तत्क्षण बुझा दो। जब मान तुम्हारी गर्दन और तुम्हारे तन को तनाव दे दे तो तुम विनम्र बन जाओ और नम्रता से मान को जीत लो। माया जब तुम्हें प्रपंच रचने की कुटिल सलाह दे तब तुम उसे ठुकरा दो और अपने हितों को सरलता से सुलझा लो। लोभ को तो तुम पास में भी मत फटको और लाभ के जंजाल में मत पड़ो अपनी सन्तोष वृत्ति से इस जंजाल का एक-एक ताना बाना तोड़ दो। अपने सम्बन्धों या पदार्थों पर जब राग वृत्ति उमड़ने लगे तो वैराग्य भाव लाकर सोचो कि यह राग मेरा नहीं है, मेरा तो वैराग्य और वीतराग भाव है जिसकी आराधना से ही मेरे विकास का मार्ग निष्कंटक बन सकेगा। द्वेष को भी तुरन्त दबा दो क्योंकि द्वेष प्रतिशोध के लिये उतारू बनाता है। द्वेष की जगह सब पर अपने स्नेह की छाया तान दो। किसी भी कारण से किसी के भी साथ कलह मत करो-उसके स्थान पर सम्प और एकता बनाओ। तब सबके स्नेह से तुम आप्लावित हो जाओगे। किसी पर झूठा कलंक मत लगाओ, किसी की चुगली मत खाओ और किसी की निन्दा मत करो। अन्दर-बाहर को दोगला मत रखो। एक वृत्ति बना लो ताकि कपट सहित झूठ बोलना भी छोड़ दो। और सबसे बड़ी बात है कि कुदेव पर श्रद्धा मत करो, कुगुरु के कहने पर मत चलो एवं कुधर्म की प्रवृत्तियाँ मत अपनाओ। देव के गुणों को समझो, परीक्षा करो और सुदेव को अपनी श्रद्धा का केन्द्र बनाओ। गुरु के आत्म-विकास को परखो और सुगुरु की आज्ञा में चलो। धर्म के लक्षणों का अध्ययन करो, सुधर्म के सिद्धान्तों के मर्म को हृदयंगम करो तथा उसके निर्देशों का पालन करो। इस प्रकार सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर श्रद्धा करते हुए मिथ्यात्व के अंधकार से बाहर निकलो तथा सम्यक्त्व के प्रकाश में पग धरो मेरे भाई !

इतना कहकर दूसरा 'मैं' चुप हो गया और पहले 'मैं' पर अपने कहने की प्रतिक्रिया देखने लगा। तब तक पहले 'मैं' का कदम आगे उठ चुका था और उसने दूसरे 'मैं' की तरफ चलना शुरू कर दिया था। थोड़ी ही देर में दोनों 'मैं' गले मिल गये और सम्यक्त्व के प्रकाश में एकमेक बन गये।

यह 'मैं' एकीभूत हो गया था, विचारों के द्वन्द्व से उबर कर समझ गया था कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या आचरण मेरा नहीं है। ये तो पर पदार्थों के प्रति मोह के कारण और पाप कार्यों के आचरण के कारण मेरे स्वरूप के साथ लिपट गये थे। अब मैंने अलग हो जाने के लिये कदम बढ़ा लिया है तो मैं मिथ्यात्व को पूरी तरह त्याग कर सम्यक्त्व के आलोक में आगे बढ़ूंगा।

मेरे मन का एक तथ्य और बता दूं कि एक ही संघर्ष में मैं मिथ्यात्व पर पूर्ण विजय नहीं पा सका था। बार-बार यह द्वन्द्व मेरे भीतर उठता है किन्तु मेरा दूसरा 'मैं' बल पकड़ता जा रहा है, इस कारण पहले 'मैं' के बहक जाने पर वह पुनः पुनः उसे समझाता है और अपने में मिलाकर साधना के पथ पर प्रगति करता रहता है।

मिथ्यात्व-सम्यक्त्व का ऐसा संघर्ष मेरे भीतर निरन्तर चल रहा है-प्रत्येक क्रिया पर चलता है, कभी उग्र होता है तो कभी मन्द, किन्तु सन्तोष का विषय यही है कि मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

समग्र आत्माओं की एकरूपता

मैंने इस सम्पूर्ण विश्लेषण से ज्ञान किया है कि संसार में परिभ्रमण करने वाली समग्र आत्माओं में अपने मूल गुणों की दृष्टि से एकरूपता विद्यमान है जैसी कि सिद्धात्माओं की एकरूपता है। यह एकरूपता है-यह एक सत्य है।

सत्य तो है किन्तु आवश्यकता इस बात की भी है कि मैं समग्र आत्माओं की इस एकरूपता को मानूं। होने के साथ अगर मानना नहीं हो तो अभिवांछित व्यवहार का निर्माण नहीं हो सकता है। जब मैं हृदय से इस एकरूपता को स्वीकार करता हूं तो मेरा आचरण इसी स्वीकृति पर आधारित होगा।

मैं तभी यह सोच पाऊंगा कि मैं दुःख नहीं चाहता और सुख चाहता हूं, उसी प्रकार सभी प्राणी दुःख नहीं चाहते, सुख चाहते हैं तो मैं अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप में इस बात का ध्यान रखूंगा कि मैं अपनी तरफ से किसी भी

प्राणी को दुःख नहीं दूं और अपनी शक्ति के अनुसार उनके दुःख दूर करूं एवं उन्हें सुख देने का प्रयास करूं। मेरी यह मान्यता मेरे आचरण में उतर कर सामाजिक व्यवहार में एक मूल्य की स्थापना करेगी। तब यह स्पष्ट होगा कि सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार एक सामाजिक मूल्य है और इसको ही आधार मान कर सभी प्राणियों को अपना पारस्परिक व्यवहार सुनिश्चित करना चाहिये। तभी सामाजिक जीवन में अहिंसा प्रवेश पा सकेगी, क्योंकि सभी इस वस्तुस्थिति को मान लेंगे कि किसी भी प्राणी के प्राणों को दुःखित करना हिंसा है तथा प्रत्येक प्राणी के प्राणों की रक्षा करना अहिंसा है। अहिंसा–पूर्ण व्यवहार के साथ ही इस आत्मीय भावना का विकास होगा कि जीओ और जीने दो।

यहाँ पर मैं इस तथ्य को हृदयंगम करना चाहूंगा कि यद्यपि व्यक्ति–व्यक्ति के संगठन से ही समाज का निर्माण होता है फिर भी व्यक्ति की शक्ति से भी ऊपर एक सामाजिक शक्ति का भी निर्माण हो जाता है। अहिंसापूर्ण आचरण से प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक साथी तथा अन्य प्राणी के प्रति अपने हार्दिक सहयोग से सम्बन्धित होगा तो सम्पूर्ण सामाजिक आचरण को भी इस रूप में ढालेगा कि वह सामाजिक शक्ति सबको आगे बढ़ाने में सहायक बने। व्यक्ति अपने स्तर पर कार्य करता है तो इस सामाजिक शक्ति का कार्य सभी प्राणियों को आधार मान कर सामूहिक हित के रूप में संचालित होता है।

मैं यों मानता हूं कि तब समाज और व्यक्ति एक सामूहिक शक्ति के ऐसे दो छोर बन जाते हैं जो दोनों ओर से प्राणियों को अपने व्यवहार में विकास लाने की प्रेरणा देते हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयासों में संलग्न होता है तो सामाजिक शक्ति के द्वारा सर्वत्र ऐसे वातावरण का विकास किया जाता है जिसमें व्यक्ति के अपने विकास के प्रयत्न अधिक सुविधा से सफल बन सकते हैं। इसे इस तरह समझें कि व्यक्ति अपने प्रयासों में अपने पांवों की शक्ति को सुदृढ बनाता है ताकि यह सुस्थिर गति से चल सके तो सामाजिक प्रयासों का यह लक्ष्य होना चाहिये कि उनके द्वारा ऊबड़–खाबड़ व कांटों भरे धरातल को समतल और साफ बनाया जाय। यदि धरातल कठिनाइयों से भरा हुआ ही रहे तो व्यक्तियों को अपनी गति बनाने में बहुत ज्यादा शक्ति का व्यय करना पड़ेगा और हो सकता है कि उस परिस्थिति में कई कम शक्ति वाले व्यक्ति अपनी चाल को ठीक नहीं कर पावें और उनके विकास का क्रम टूट जाय। किन्तु जब सामाजिक शक्ति के प्रयोग से सुन्दर धरातल का निर्माण हो जाय तो शक्ति के ऊंचे–नीचे स्तरों पर रहे हुए व्यक्तियों को भी चलना

आसान हो जायगा। वर्तमान वातावरण की दृष्टि से मैं इसको इस रूप में भी समझ सकता हूं कि अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रयासों से व्यक्ति समाज में फैली हुई आर्थिक विषमता को दूर करने की दिशा में कार्यरत होता है, उस समय सामाजिक प्रयासों के रूप में समाजवाद, साम्यवाद या ऐसी ही किसी विचारधारा का प्रयोग किया जाता है तो वह विषमता अधिक आसानी से दूर की जा सकती है। अतः इस दृष्टि से समग्र आत्माओं में एकरूपता की मान्यता समाज और व्यक्ति में अधिक समरसता उत्पन्न कर सकती है।

दूसरा सूत्र और मेरा संकल्प

मैंने इस दूसरे सूत्र के संदर्भ में यह जान लिया है कि मैं प्रबुद्ध और सदा जागृत हूँ। मेरा 'मैं' स्वयं अपना ज्ञाता है और इसी कारण वह सदा जागृत रह सकता है। जो अपने को जान लेता है, वह सबको जान लेता है तथा जो सबको जान लेता है, वह अपने को भी जान लेता है। स्वरूप ज्ञान ही वास्तव में विश्व–ज्ञान होता है। स्वरूप दर्शन ही जगत्–दर्शन है। इस कारण मैं सोच लेता हूं कि इस संसार में मेरा अपना क्या है तथा क्या मेरा नहीं है। जीव और अजीव की युति में अपने निज के स्वरूप को मैं समझ लेता हूँ और जड़ तत्त्व को समझ कर उससे सम्बन्ध त्यागने के सारे यत्न आरंभ कर देता हूँ। इस दृष्टि से एक ओर मैं पदार्थ–मोह को छोड़ता हूँ और अपने शरीर पर से भी ममता हटाता हूं तो दूसरी ओर पदार्थ–मोह के कारण पैदा होने वाली अपनी विकार वृत्तियों को भी मैं परिमार्जित, संशोधित एवं संशुद्ध बनाता हूँ। ये ही वे यत्न हैं जिनके कारण मैं मानता हूं कि मेरा आत्म–स्वरूप उज्ज्वल बनेगा तथा मेरी आत्मा मुक्ति के गंतव्य की दिशा में आगे बढ़ेगी।

अतः मैं संकल्प लेता हूँ कि संसार के जड़ पदार्थों को मैं कभी अपने नहीं मानूंगा। अपने ही शरीर को भी अपना नहीं मानूंगा। नहीं मानने के साथ ही मैं इन पर से अपना ममत्त्व भी घटाते हुए नष्ट कर दूंगा। मोहग्रस्तता से उत्पन्न मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या आचरण को भी मैं अपना नहीं मानूंगा तथा सम्पूर्ण मिथ्यात्व के अंधकार से बाहर निकलूंगा एवं अपने मन, वचन एवं कर्म की क्रियाओं के कारण पुनः उस अंधकार में नहीं जाऊंगा।

मैं संकल्प लेता हूं कि पर–पदार्थ के प्रति उपजे अपने प्रगाढ़ मोह को अपनी साधना के अभ्यास से समाप्त करके एवं पाप कार्यो से शनैः शनै ही सही पीछे हटकर मैं सम्यक्त्व के आलोक में पग धरूंगा तथा सदा सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण से अनुप्राणित रहूंगा। मैं अपने सम्यक्त्व की अवधारणा को नवतत्त्व के ज्ञान पर आधारित रखूंगा ताकि वह

कभी डगमगायगी नहीं। सम्यक्त्व को परिपुष्ट बनाने की प्रक्रिया में मैं सदैव आत्म–नियंत्रण, आत्मालोचना तथा आत्म–समीक्षण की पद्धति को अपनाऊंगा ताकि मेरी आत्मा के मूल गुण प्रकट होते रहें और वह अपने विशुद्ध स्वरूप के प्रति निष्ठा धारण कर ले।

मेरा यह संकल्प होगा कि मैं स्वयं के आत्म–विकास को साधता हुआ संसार की समग्र आत्माओं के विकास में कार्यरत बनूंगा जिसके कारण मेरा आत्म–विकास भी संपुष्ट बन सकेगा। मैं आत्म विसर्जन की उस भूमिका तक बढ़ चलूंगा जहां संसार की समस्त आत्माओं में एकरूपता के दर्शन होते हैं।